





प्रकाशक—

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक और विक्रेता  
हॉस्पिटल रोड, आगरा

मुद्रक—

राधाचरमन अग्रवाल  
मौडनं प्रेम, नमकमण्डो, आगरा

## निवेदन

इह संकलन इन्टरमीजियट परीक्षा के छात्रों के लिए तय्यार गया है। इसमें भारतेन्दु-काल से लेकर अब तक के प्रमुख धकारों की कृतियाँ संकलित हैं। साथ ही इस बात का भी साध्य प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी में निबन्ध-लेखन की वेभिन्न शैलियों प्रचलित हैं उन के नमूने संकलन में आ जायें। की विभिन्नता के साथ-साथ-विविधता का भी ध्यान गया है। भाव-प्रधान और विचार-प्रधान, कल्पना-प्रधान वर्णन-प्रधान एवं इसी प्रकार गंभीर और विनोदात्मक, नैतिक और कलात्मक, साहित्यिक और विवेचनात्मक, आलो-त्मक और कथात्मक—सभी प्रकार के निबन्धों का समावेश इस संकलन में हुआ है।

आरम्भ में हिन्दी के गद्य-साहित्य के विकास का इतिहास में प्रमुख लेखकों की शैलियों का परिचय संक्षेप में दिया गया। अन्त में कठिन एवं असाधारण शब्दों आदि को स्पष्ट करने-ली टिप्पणियाँ तथा आवश्यक सूक्त भी दिये गये हैं।

जिन महानुभावों की रचनाएँ इस संकलन में संगृहीत हुईं उन के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट कर देता संकलनकार में आवश्यक समझता है।

—संकलनकार ।



# विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
	प्रस्तावना ..	१
१-	प्राचीन भारत की एक मूलक (महावीरप्रसाद द्विवेदी)	१
२-	विचार-नरंग (बालमुकुन्द गुप्त) ...	१४
३-	स्मृति ( श्रीराम शर्मा ) ..	१६
४-	बीज की बात ( गद्य कृष्णदाम) ..	३१
५-	जमान में हरिश्चन्द्र (भारतेंदु हरिश्चन्द्र) ...	४०
६-	वृद्ध ( प्रतापनारायण मिश्र ) ...	४६
७-	नाटक ( पदुमलाल पुन्नालाल वर्मा ) ...	४७
८-	दो-दो बातें ( अयोध्यासिंह उपाध्याय ) ...	६०
९-	भारतीय चित्र-कला ( गौरीशंकर हीराचन्द्र श्रोता )	६३
१०-	ब्रजभाषा का विरोध ( पद्मसिंह शर्मा )	७२
११-	शक्ति पर विजय ( रामदान गौड़ )	७६
१२-	काव्य के उपकरण (ग्याममुन्दरदास)	८४
१३-	आँसू (बालकृष्ण भट्ट)	१११
१४-	झायावाद (जयशंकर प्रसाद ,	११४
१५-	दुवेजी की सपादकी (विश्वम्भरनाथ शर्मा कोशिक)	१२०
१६-	नयनों की गंगा (सरदार पूर्णसिंह)	१३२
१७-	साहित्य-कला का उद्देश्य (प्रेमचन्द ,	१४६
१८-	लोक-गीत (नरोत्तमदास स्वामी)	१६०
१९-	काव्य में प्राकृतिक दृश्य (रामचन्द्र शुक्ल)	१६७
	टिप्पणी	१८६

# प्रस्तावना

## हिन्दी का गद्य-साहित्य

( संक्षिप्त परिचय )

हिन्दी भाषा का प्राचीन साहित्य मुख्यतया पद्य में लिखा हुआ है। प्रायः सभी भाषाओं में पद्यात्मक साहित्य की रचना पहले आरम्भ होती है और प्रारंभ में बहुत समय तक उसी का प्राधान्य रहता है। गद्य का प्रयोग बोलचाल में या साधारण अत्यायी साहित्य के लिए होता है। गद्य में लिखित बातों को याद रखने में सुभीता नहीं होता, अतः वे स्थायी नहीं रह सकतीं और न उन का विशेष प्रचार हो सकता है। इसी कारण संस्कृत और प्राचीन हिन्दी में साधारण विषयों पर भी पद्य में ही रचनाएँ की गईं। गद्य में जो कुछ साहित्य लिखा भी गया उसका अधिकांश, प्रसिद्धि न प्राप्त करने के कारण नष्ट हो गया या अधिकांश में क्षीय पड़ा है।

हिन्दी में गद्य-साहित्य की रचना का व्यापकान के प्रचार से ही प्रेरणा मिली और उसी के बाद उसकी उत्पत्ति हुई। व्यापकान के प्रचार भारतवर्ष में बहुत देरी से हुआ, इसी कारण यहाँ गद्य-साहित्य का अन्ववृद्धि विकास का युग भी देरी से आरम्भ होता है।

फिर भी हिन्दी का प्राचीन साहित्य गद्य में शून्य नहीं है। प्राचीन-कालीन गद्य रचनाओं के नमूने वही-वही सुरक्षित रह गये हैं, जिनमें

से कुछ प्रकाश में आये हैं, और बहुत से यथकार में पड़े हैं। इन्हीं के आगर पर गद्य के प्राचीन इतिहास का कुछ संक्षिप्त विवेचन यहाँ पर किया जायगा।

हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने उस के विकास-काल को निम्न लिखित चार भागों में बाँटा है—

- ( १ ) प्राचीन काल, संवत् १००० से १४०० तक
- ( २ ) पूर्व-माध्यमिक काल, संवत् १४०० से १७०० तक
- ( ३ ) उत्तर-माध्यमिक काल, संवत् १७०० से १८०० तक
- ( ४ ) आधुनिक काल, संवत् १८०० से अद्य तक

हम भी अपने विवेचन में इसी काल-विभाग का अनुसरण करेंगे; केवल उत्तर-माध्यमिक काल की सीमा को संवत् १८२५ तक खींच ले पावेंगे क्योंकि आधुनिक काल का आरम्भ हरिश्चन्द्र के साथ मानना हमें अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

## प्राचीन काल

( १०००-१४०० )

इस काल में साहित्यिक क्रिया-शीलता का कन्द्र राजस्थान था। साहित्य में राजस्थानी भाषा का प्राधान्य रहा। व्रजभाषा और गुजराती अभी राजस्थानी से अलग नहीं हुई थी। इस कारण इस काल की राजस्थानी एक व्यापक साहित्यिक भाषा थी। राजस्थानी में मुख्यतया तीन प्रकार की रचनाएँ पाई जाती हैं

१. हिंदी का प्राचीन गद्य साहित्य इतना कम और इतना पौन नहीं है जितना कि समझा जाता है। प्राचीन गद्य रचनाओं का खोज की अभी बड़ी भारी आवश्यकता है। उनका प्रकाशन भी नितान्त आवश्यक है। राजस्थान, मध्यभारत, मध्यप्रांत, बिहार, पंजाब आदि प्रान्तों में तो अभी खोज का काम सम्यक् प्रकार से आरम्भ ही नहीं हुआ। जब तक यह नहीं हो जाता तब तक हिंदी गद्य का सच्चा और पूरा इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

( १ ) वीररसात्मक रचनाएँ—इन के रचियता चारण-भाट होते थे। वीररस के उपयुक्त श्रोजगुण लाने के लिए ये लोग अपनी रचनाओं में ऐसे शब्दों को अपनाते थे, जो सयुक्त या द्विस्त अक्षरों से बने होते थे। आगे चलकर तो शब्दों को ऐसा बनाने के लिए जान-बूझकर उन की कपालक्रिया की जाने लगी। इस प्रकार की भाषा आगे चलकर ढिगन कहलाई।

( २ ) लोक-प्रिय रचनाएँ—इनके रचियता ढाढी, ढोली आदि जातियों के लोग होते थे, जिनका व्यवसाय जनता को गा-बजाकर रिझाने का था। ये रचनाएँ जनता की धोल-घाल की भाषा में की जाती थीं।

( ३ ) जैन-धर्म सम्बन्धी—इनके रचियता जैन-साधु होते थे। इन की भाषा पर श्रपभ्रंश का प्रभाव विशेष पाया जाता है।

प्रथम दोनों प्रकार की रचनाएँ मुख्यतया मौखिक ही रहती थीं, जिससे उनका रूप धीरे-धीरे बदलता जाता था। इस समय उनका तत्कालीन रूप में प्राप्त होना असम्भव-मा है। जैन-लेखकों की रचनाएँ मुख्य करके लिखित हाती थीं, और आज भी उनमें से बहुत-सी उपलब्ध हैं। इनमें से अनेक गद्य में हैं।

इस काल के हिंदी-गद्य व उदाहरण प्रायः नहीं मिलते, परन्तु सच पूछा जाय तो तत्कालीन साहित्य की अभा पर्याप्त व्याज ही नहीं हुई। योज करने से इस काल का गद्य भी पर्याप्त परिमाण में प्राप्त होगा। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। साहित्यिक कृतियों व धार्मिक ग्रन्थों के अनेक शिलालेख भी राजस्थान में स्थान-स्थान पर मिलते हैं, जिनमें से कई एक तत्कालीन ढाल घाल की भाषा में लिखे गये हैं।

राजीव मोहनलाल दिव्यलाल पण्डित ने २६ पट्ट-परवान प्रकाशित कराये थे, जिन्हें वे पृथ्वीराज राहान व समय के मानते थे। कई अन्य विद्वान् भी उनमें सहमत हैं और वे इन परवानों की भाषा को हिंदी-गद्य के सब-प्रथम उदाहरण मानते हैं। परन्तु उनका प्रामाणिकता

में पूरा मन्देह है। उनकी भाषा ही स्पष्ट कह रही है कि वे उस काल के नहीं। महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द्र श्रोत्रा आदि अनेक इतिहासज्ञ विद्वान् उन्हें जाली समझते हैं।<sup>१</sup> जाली न भी हो तो भी इसमें कोई मन्देह नहीं कि वे बहुत याद के हैं। उनकी भाषा और लिपि-पद्धति बहुत अवांछनीय हैं।

## पूर्व-माध्यमिक काल

( १४००-१७०० )

इस काल में साहित्य-केन्द्र राजस्थान से हटकर व्रजमंडल और काशी जा पहुँचा। राजस्थानी का प्राधान्य नष्ट हो गया और वह सार्वत्रिक साहित्यिक भाषा नहीं रह गई। उसका स्थान व्रज ने लिया। अवधी भी आगे आई, पर व्रज ने उसे दबा दिया। व्रजभाषा के इस महत्व का कारण उस काल का धार्मिक उत्थान है।

यद्यपि व्रज ने राजस्थानी को उसके पद से हटा दिया, पर गद्य-साहित्य की दृष्टि से राजस्थानी का ही प्राधान्य रहा। व्रज ने गद्य में कुछ भी उन्नति न की। उधर राजस्थानी में गद्य की नदी-सी उमड़ पड़ी जो आधुनिक काल के प्रारम्भ तक निरन्तर प्रवाहित रही। पूर्व-माध्यमिक काल से राजस्थान के विभिन्न राज्यों की ग्याते (इतिहास) बराबर लिखी जाने लगीं। ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक और काल्पनिक कथा-साहित्य बातों का तो प्रवाह ही बह चला। अभान्यवश राजकीय परिवर्तनों के कारण तथा अन्यान्य कारणों से यह साहित्य सुरक्षित न रह सका। कुछ बिखर गया, बहुत नष्ट हो गया। राज्यों की ग्यातें, लिखनेवालों या उस विभाग के अधिकारियों की निजी संपत्ति बनकर विस्मृति के गर्त में जा पड़ी। परन्तु इस काल में जैन-विद्वानों ने जो गद्य-ग्रन्थ निमाण नियो-

<sup>१</sup> नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, में श्रोत्राजी का 'अनंद विजय सप्त की कल्पना' नामक निबन्ध।

उनमें से अधिकांश रचित रह गये हैं और उनका परिमाण कम नहीं है । इनका सुव्यवस्थित अनुसंधान और प्रकाशन नितान्त आवश्यक है । इसके बिना हिन्दी-गद्य के विकास का इतिहास अधूर्ण ही रहेगा । यदि राजस्थान के गद्य-साहित्य की पूरी खोज हो जाय तो हिन्दी का यह कलंक सर्वथा धुल जाय कि उसका प्राचीन साहित्य गद्य से शून्य है । राजस्थानी में गद्य लेखन की अखंड परम्परा अपभ्रंश काल से लेकर इस शताब्दी के आरम्भ तक बराबर जारी रही और यह गद्य अत्यन्त उच्च कोटि का है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।

इस काल में मुसलमान-साम्राज्य के समस्त भारत में फैल जाने के कारण खड़ीबोली का प्रसार सारे देश में हो गया और धीरे-धीरे वह राष्ट्रभाषा-सी बन गई । मुसलमानों ने भारत में आने से खड़ीबोली को ही अपनाया था और आगे चलकर वे उसमें साहित्य-रचना भी करने लगे । पहले उनकी रचनाओं की भाषा शुद्ध होती थी, पर बाद में अरबी-फारसी शब्दों की भरमार होने लगी और भाव-व्यंजना पर भी फारसी शैली का प्रभाव पड़ने लगा । इस प्रकार खड़ीबोली उर्दू में परिवर्तित हो गई । उर्दू के विकास का इतिहास हिन्दी के विकास से भिन्न है । विभिन्न प्रान्तों के पारस्परिक व्यवहार की भाषा खड़ीबोली होने पर भी हिन्दू-लेखकों ने उस ओर ध्यान न दिया । वे राम-कृष्ण की जन्मभूमि की भाषाओं—मग्न और अवर्धा—में ही मग्न रहे । यदा कदा खड़ीबोली में लिखनेवाले लेखक भी हुए जिनकी रचनाओं का पता चला है, पर उनमें से अधिकांश का सम्यन्ध किसी न किसी शाही दरबार से था, जैसे गंगाभट्ट और जटमल ।

इस काल के गद्य लेखकों और गद्य-रचनाओं का उल्लेख नीचे किया जाता है—

( १ ) गारखनाथ —कहते हैं कि स १८०० के लगभग <sup>१</sup> गोग्र-

<sup>१</sup> मिश्रधुविनोद नवीन सत्करण भाग १ पृष्ठ २६१

नाथ हुए, जिन्होंने ने पहले पहल ब्रजभाषा में गद्य-रचना की। कुछ पु मिलती हैं, जो गोरखनाथ की लिखी बताई जाती हैं, परन्तु गोरख का समय सं० १००० से पूर्व ही है, यह नवीन खोजों से सिद्ध हो है, <sup>१</sup> अतः ये गोरखनाथ की कृतियाँ नहीं हो सकतीं। सम्भव है कि गोरखनाथ के शिष्यों की लिखी हुई हों और उनके नाम से प्रसिद्ध कर गई हों। फिर भी इन रचनाओं की जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं इतनी पुरानी नहीं हैं, अतएव यह संदिग्ध ही है कि ये कृतियाँ प्रतियों में अपने मूल-रूप में पाई जाती हैं।

( २ ) गोकुलनाथ—ये विट्ठलनाथ के पुत्र थे। इनका म १६२५ से १६५० के आस-पास है। ब्रजभाषा के गद्य में इन्होंने त प्रन्य लिखे, जिनमें से पहले दो बहुत प्रसिद्ध हैं—

१—‘चौरासी वैष्णवन की वारता;’

२—‘दो सौ बावन वैष्णवन की वारता,’ और

३—‘वनयात्रा।’

इनकी रचनाएँ ब्रजभाषा-गद्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। लिपि का उद्देश्य साहित्यिक न होने के कारण भाषा बोलचाल व स्वाभाविक और सुबोध है एवं उसका रूप विशुद्ध, व्यवस्थित और परिष्कृत है। उर्दू आदि अन्य भाषाओं के बोलचाल के शब्द उस स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं।

( ३ ) गंगाभाट—ये अक्षर के दरबार में थे। उनकी ‘चंद्र वरनन की महिमा’ नामक पुस्तक प्रसिद्ध है। यह ब्रज-मिश्रित है।

<sup>१</sup> नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग ११, में श्री पंतान्धरदत्त यदुवाल का ‘हिन्दी कविता में योग प्रवाद’ नामक निबन्ध तथा गंगा, भाग ३, अंक १ (पुगतत्वाक), श्री राहुल सांकृत्यायन का ‘मंत्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध’ नामक निबन्ध।

बोली में है। खड़ीबोली के गद्य का सर्व-प्रथम उदाहरण यही माना जाता है।

( ४ ) जटमल—कहते हैं कि जटमल ने संवत् १६८० के लगभग खड़ीबोली के गद्य में 'गोर-दादल की बात' नामक पुस्तक लिखी, पर अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि यह कथन ठीक नहीं। जटमल की उक्त रचना गद्य में नहीं किन्तु पद्य में है \*। इसी का अनुवाद स० १८८० के लगभग किसी ने गद्य में किया। हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में जो उदाहरण दिये जाते हैं वे जटमल की मूल रचना के नहीं, किन्तु इसी अनुवाद के हैं।

इस काल के अन्यत्र गद्य-लेखकों में विट्ठलनाथ, नन्ददान, नाभा-दास, यनारसीदास, वैकुण्ठमणि शुक्ल और विष्णुपुरी की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। ये रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं।

## उत्तर-माध्यमिक काल

( १७००-१८२५ )

इस काल के अधिकांश भाग में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा, पर कोई महत्वपूर्ण गद्य-रचना उस में नहीं हुई। अनेक टीकाकार इस काल में हुए जिन्होंने अपनी टीकाएँ ब्रज में लिखी, पर उन की भाषा बड़ी ही अव्यवस्थित और दृष्टिक से की है। उन की गद्य-साहित्य में नहीं की जा सकती।

\* नागरी-प्रबन्ध 'निर्णय-प्रसिद्ध', भाग १४ पृष्ठ ६ में, वनमान लेखक का लिखा हुआ जटमल की गोर-दादल की बात क्या वह गद्य में है' नामक लेख तथा विशाल भागत के दिग्दर्शक १८३६ छक में श्री पूर्णचन्द्र नाहर का कर्ण भोग नामक लेख।

इस स्थल का सुसंपादित संस्करण तैयार है और वह जल्द ही प्रकाशित होगा। स० १८८१ का गद्यानुवाद भी साथ में होगा।



इस काल में राजस्थानी अपनी अलग उन्नति करती रही। उसका पृथक्कालीन गद्य-साहित्य बहुत विस्तृत है और बहुत कुछ सुरक्षित भी है। यह साहित्य अधिकांश ऐतिहासिक और कल्पनात्मक कथा-कहानियों के रूप में है। राजस्थानी लेखकों ने ब्रजभाषा में भी बहुत-कुछ लिखा, और कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ ब्रज में या पूर्वी-राजस्थानी-मिश्रित ब्रज में लिखे हुए मिले हैं, जिन में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण अयुल-कजल की आर्देने-अकवरी का अनुवाद है। यह ७०० बटे-बड़े पृष्ठों का बृहत् ग्रन्थ है और ब्रजभाषा की सब से बड़ी रचना है। इस का गद्य प्रौढ़ और उच्च कोटि का है।

इस काल के अन्तिम भाग में खडोबोली की ओर भी लोगों का ध्यान गया और कई अच्छी रचनाएँ उस में हुईं, इन में पहले महत्त्वपूर्ण लेखक मुन्गी मडासुखलाल हैं। उनके बाद इशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल तथा मदल मिश्र हुए। लल्लूलाल और मदल मिश्र ने अंग्रेजों के आश्रय में लिखा। इन्हीं के समकालीन राजा राममोहनराय हुए<sup>१</sup> जिन्होंने खडोबोली में भी रचना की और एक समाचार-पत्र भी निकाला<sup>२</sup>। इसी समय में जुगलकिशोर शुक्ल ने हिंदी का सब से पहला समाचार-पत्र कलकत्ते से निकाला<sup>३</sup>। ईसाइयों ने भी खडोबोली को धर्म-प्रचार के लिए अपनाया और उन्होंने अपने धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद उस में किया। शिक्षा का प्रचार होने से पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता हुई और ईसाई-संस्थाओं ने एक-एक करके बहुत सी पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित कीं। यह क्रम इस काल के अन्त तक बराबर चलता रहा।

\* 'विशाल-भारत', भाग १२, संख्या ६, में श्री हजारिप्रसाद द्विवेदी का 'राजा राममोहनराय की हिंदी' नामक लेख।

† 'विशाल-भारत', भाग ७, संख्या २, पृष्ठ १६०

‡ वही, भाग ७, संख्या २—३—४, में श्री ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी का 'हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र' नामक निबन्ध।

इस काल के अन्तिम वर्षों में राजा शिवप्रसाद मित्तारे हिंदू, राजा लक्ष्मण सिंह, स्वामी दयानन्द आदि खड़ीबोली के गद्य-लेखक हुए । राजा शिवप्रसाद की कृपा से हिंदी को शिक्षा-विभाग में स्थान मिला जिससे हिंदी गद्य-लेखन को बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ । इस प्रकार मद्रासुगलाल से जो गद्य-लेखन-परम्परा आरम्भ हुई वह चारों तरफ चलती गई । आगामी काल में छापे जाने के विनोद प्रचार में तथा शिक्षा-विभाग में हिंदी का प्रवेश हो जाने से गद्य की और भी वेग ने उत्पत्ति होने लगी । हिंदू लेखकों का ध्यान अब तब खड़ीबोली की ओर कम था, या यों कहिये कि नहीं था पर शिक्षा-विभाग में हिंदी के प्रवेश ने तथा अन्यान्य प्रान्तों के पारस्परिक व्यवहार को आवश्यकता ने उनको भी खड़ीबोली की ओर खींच लिया । ब्रजभाषा पहले ही गद्य-लेखनोपयोगी नहीं हो सकी थी और राजस्थानी में प्रचुर गद्य होते हुए भी वह केवल राजस्थान और मध्यभारत के कुछ हिस्सों तक ही सीमित थी, इसलिए जब खड़ीबोली गद्य के लिए उठ खड़ी हुई तो उसके ग्रहण करने में कोई संकोच या विरोध नहीं हुआ । धीरे-धीरे वह शिक्षा-समाज की बोली हो गई, जिस कारण ( और राजस्थानी जनमाधारण की बोली रह गई और धीरे-धीरे गैवारों समझी गई इसलिये ) वह राजस्थानी पर भी हावी हो गई और राजस्थानी विद्वानों और लेखकों ने भी खड़ीबोली को बड़े उत्साह के साथ अपना लिया ।

हिंदी के इतिहासकारों का मत है कि इन काल में सन् १८५०-६० के लगभग उपर्युक्त चार लेखकों द्वारा खड़ीबोली में गद्य-लेखन की प्रतिष्ठा तो हुई पर उनकी श्रद्धा परंपरा उस समय में नहीं चली। पर यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता । सन् १८६० के बाद सम्भव

• (१) रामचन्द्र शुक्ल, 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४६६

(२) कृष्णशंकर शुक्ल, 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास',

पृष्ठ १२६

१६०० तक बराबर गद्य-रचनाएँ होती रही हैं, जिन में से अनुसंधानों द्वारा बहुत-सी धीरे-धीरे प्रकाश में आ रही हैं। अवश्य ही हिंदू कवियों ने इस ओर कम ध्यान दिया, पर यह बात नहीं कि नहीं दिया। हिंदी के प्रारम्भिक समाचार-पत्र भी इसी काल में निकले। आपेखाने का विशेष प्रचार न होने से यह परम्परा इस काल में उस वेग से अवश्य ही अग्रसर नहीं हो सकी, जैसी कि आगामी काल में हुई।

इस काल के खड़ीबोली के गद्य-लेखकों और गद्य-रचनाओं का उल्लेख नीचे किया जाता है।

(१) मण्डोवर का वर्णन—किमी अज्ञात, राजस्थानी लेखक द्वारा कोई १५०-२०० वर्ष पूर्व लिखित।

(२) चकत्ता की पातस्याही की परम्परा—किमी अज्ञात लेखक द्वारा संभवतः १८१० के लगभग लिखित। इसकी पृष्ठ-संख्या १०० बताई जाती है।

(३) कुतबदी साहिजादे की बात—संभवतः १८४७ के पूर्व की एक रचना। इसकी भाषा राजस्थानी मिश्रित खड़ीबोली है।

(४) मुन्शी मदासुखलाल नियाज (१८०३-१८८१)—यं दिल्ली के रहनेवाले थे। उन्होंने उर्दू-फारसी में बहुत-सी पुस्तकें लिखीं और हिन्दी में श्री मद्भागवत का सतस्र अनुवाद 'मुखमागर' नाम से किया। उनकी भाषा काशी के आस-पास के तत्कालीन शिष्ट-समाज के बोल-चाल की खड़ीबोली है, जैसी उधर के पुराने ढंग के पण्डित आदि लोग अब भी बोलते हैं। दिल्ली-निवासी होने पर भी उनकी रचनाओं में अरबी-फारसी शब्द नहीं पाये जाते, पर संस्कृत के न्यूनतम शब्द स्थान-स्थान पर मिलते हैं। पण्डिताऊ प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे कि प्रयाग और काशी के पण्डित बोलते चले आये हैं।

( ५ ) ईशा अल्ला खो—ये उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे और कई शाही दरबारों में रहे । संवत् १२५५ और १२६० के बीच<sup>१</sup> इन्होंने हिन्दी में 'उदयमान-चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' नामक पुस्तक लिखी । इन्होंने बाहर की बोली ( शरबी-फारसी आदि ) गैबारी ( देहाती बोलियों ), और भाषापन से रहित विद्युद्ध हिंदी में अपनी कहानी लिखने का प्रयत्न किया । परन्तु प्रयत्न करने पर भी कई स्थानों पर फारसी ढंग का वाक्य-विन्यास आ हो गया है । इनकी भाषा षट्क-मट्क वाली, मुहावरेदार और चलती है । उसमें उर्दू कवियों की सी चुल्हपुलाहट पाई जाती है । लल्लूलाल की तरह मालुप्राप्त चिराम (वाक्यों के अन्त में तुक मिलना) भी कहीं कहीं पाये जाते हैं ।<sup>२</sup>

( ६ ) लल्लूलाल—( १२२०-१२२२ ) ये आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे । दाद में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में नौकर हुए । कालेज के अध्यक्ष जान गिलक्रिस्ट साहब की आज्ञा से इन्होंने भागवत के दशम स्कन्ध की कथा को लेकर 'प्रेमसागर' नामक ग्रन्थ लिखा । इस प्रेमसागर का मुख्य आधार चतुर्भुजदास कृत दशम स्कन्ध का पद्यानुवाद है, जो ब्रज में लिखा गया था । इसी कारण इनकी भाषा में ब्रजभाषा का प्रभाव बहुत है और उसमें स्थान-स्थान पर कृत्रिमता उल्लेखनी है । शरबी-फारसी शब्दों को दवाने का पूरा प्रयत्न किया गया है । जगह-जगह तुक-बन्दी पाई जाती है । इस प्रकार इनकी भाषा कथा-व्यासों की-सी हो गई । वह निय के व्यावहारिक प्रयोग के लिए उपयुगी नहीं सिद्ध हुई । इन्होंने प्रेमसागर के अतिरिक्त और भी कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें अधिकांश उर्दू

<sup>१</sup> अन्य मतानुसार १२५२ से १२५५ के बीच में ।

<sup>२</sup> इस प्रकार के अद्यानुप्राप्त वाले गद्य को राजस्थानी में बचनिका कहते हैं । यह लेखन-प्रथा बहुत प्राचीन है । राजस्थानी में इस प्रकार की बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं ।

में है। ब्रजभाषा-ग्रन्थ में भी 'राजनीति' नाम से 'हितीपदेन' की कुछ कहानियों का अनुवाद, पद्य के आधार पर लिखा।

( ७ ) सदल मिश्र—ये बिहार-निवासी थे। लल्लूलाल की भाँति इन्होंने भी फोर्ट विलियम कानेज के अधिकाश्यों की प्रेरणा से हिन्दी-ग्रन्थ में 'चन्द्रावती' या 'नामिकेनोपाख्यान' लिखा। इसकी और 'प्रेम-सागर' की भाषा में बड़ा अन्तर है। साफ-सुथरी न होने पर भी इसकी भाषा व्यवहारोपयोगी है। उसमें उर्दू शब्दों को बचाने का प्रयत्न नहीं किया गया है और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है जिससे भाषा में जान आ गई है। ब्रज के प्रयोग भी उड़े स्थानों पर आये हैं और उहाँ-उहाँ पुरबी की झलक भी मिलती है, जो इनके लिए स्वाभाविक ही थी।

ये चार लेखक आधुनिक रुढ़ीबोली ग्रन्थ के जन्मदाता समझे जाते हैं। इनमें भी मुन्गी सदासुखनाथ और सदल मिश्र की भाषा आधुनिक भाषा के अधिक निकट है। उसमें आधुनिक ग्रन्थ का पूर्वाभास मिलता है। लल्लूलाल की भाषा कृत्रिमता-पूर्ण है, क्योंकि यह मुग्धनया पद्य का गद्यानुवाद मात्र है। इनकी और दशाग्रनाथ की भाषा काव्य-गचना या कव्यनमक कहानियों के लेखन के उपयुक्त हो सकती है, पर व्यवहारोपयोगी नहीं।

( ८ ) बाटविल का अनुवाद—डेसाइया ने मध्यम १८६६ में बाटविल के नये धर्म-नियम (न्यू टेस्टामेंट) का श्री मन्त्र १८७८ में पूर्ण बाटविल का अनुवाद प्रकाशित किया। इस अनुवाद में छेड़-बोचगाल के बिना शब्दों को विशेष रूप से ध्यान दिया गया है, पर उर्दू शब्द प्रचलित हैं। भाषा पर 'प्रेमसागर' का प्रभाव प्रभाव पाया जाता है।

इसमें बाट डेसाइया द्वारा पुस्तकें और पुस्तक में बर्णन निकलती हैं। जिनका नाम म पाठ्य-पुस्तकें की आवश्यकता होने पर इन्होंने बहुत-से नए पुस्तकें प्रकाशित करे हैं।





मानों का विरोध न रहे और हिन्दी का स्थान उर्दू से कम न रहे । राजा साहब के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए उर्दूपन की आलोचना करते समय हमें तत्कालीन परिस्थिति को भली भाँति ध्यान में रखना चाहिए ।

( १३ ) राजा लक्ष्मणसिंह—इन्होंने राजा शिवप्रसाद की उर्दू-भरी शैली का विरोध किया और विशुद्ध शैली का पत्र लेकर आगे धाये । संवत् १६१८ में इन्होंने 'प्रजा-हितैषी' नामक एक पत्र निकाला और अगले ही वर्ष 'शकुन्तला' का अनुवाद विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित किया जिसमें ठेठ शब्दों के साथ-साथ सरल नम्र शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । विदेशी जार्नी उर्दू शब्दों को बचाने के लिए उन्होंने विशेष रूप से प्रयत्न किया । सरल होते हुए भी इनकी शैली व्यावहारिक नहीं कही जा सकती । उसने निबंध लिखे जा सकते हैं पर वह बोलचाल की नहीं हो सकती । प्रतिदिन कान में आनेवाली और लोगों की जगान पर नाचनेवाली घरघी-फारसी शब्दों को एक दम निकाल देना भाषा की मखिन शक्ति को घटाना है । विनोदान्तिक शैली में तो ऐसे शब्द दंठे उपयुक्त और आवश्यक हो पड़ते हैं ।

( १४ ) स्वामी दयानन्द—इनका हिंदी पर दृढ़ भारी कण है । मातृभाषा हिन्दी न जान हुए भी इन्होंने अपनी रचनाएँ हिन्दी में लिखी और अपने अनुयायियों के लिए हिन्दी पढ़ना आवश्यक कर दिया । यही कारण है कि आज प्रभाव जम उर्दू के प्रबल गढ़ में भी हिन्दी का प्रचार है । स्वामीजी की मर्जी विशुद्ध है और विषयानुसार संस्कृत शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं । उर्दू शब्द प्रायः नहीं आये हैं ।

( १५ ) नवानचन्द्र राय—ये ब्रह्मचर्यजी थे और पन्ना में रहते थे । समाज सुधारक तथा 'स्व'-गुरु के दृढ़ भागी पण्डितों में । इन्होंने ब्रह्मचर्यमात्र के सङ्गति और सामाजिक विषयों पर बहुत-सा पुस्तक लिखी । २६ पत्रिका भी 'नवान' जिनमें एक का नाम 'ज्ञान प्रदायिका' था । इनके कारण पन्ना में हिन्दी-प्रचार जान न दृढ़ हो सका । इनका भाषा भी विशुद्ध हिन्दी ही नहीं थी ।



( १६ ) श्रद्धाराम फिल्लोरी—ये भी पञ्जाब के निवासी थे । बड़े अच्छे कथा-वाचक और व्याख्याता थे । इनका कहने का ढङ्ग बड़ा हृदयप्राही होता था जिससे इनकी कथाओं आदि का जमता पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता था । बड़े स्वतन्त्र विचारों के मनुष्य थे । इन्होंने कई-एक धार्मिक पुस्तकें बड़ी जोरदार भाषा में लिखी हैं ।

राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह तक आकर हिंदी ने बहुत कुछ स्थिरता और पुरुरूपता प्राप्त कर ली । अब हिन्दी में लिखकर भावों को प्रकट करना सुगम हो चुका था । अनेक विषयों पर लिखा भी जाने लगा । क्षेत्र बिल्कुल तैयार था । इस क्षेत्र में स्थायित्व का बीज बोने वाले की ही आवश्यकता रह गई । इसी समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कार्य-क्षेत्र में उतरे और उनके हाथों यह कार्य पूर्ण सफलता के साथ सम्पन्न हुआ । उन्होंने हिंदी में जीवन डालकर उसे अपने पैरों पर खड़ी होने के योग्य बना दिया । हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में उन्होंने युगांतर उपस्थित कर दिया—हिंदी का आधुनिक युग वास्तव में उन्हीं के साथ आरम्भ होता है—वही आधुनिक हिंदी के जन्मदाता है ।

आधुनिक काल के हिन्दी-गद्य की आलोचना के पूर्व हम यहाँ पर दो-एक भ्रान्तियों का निराकरण कर देना अत्यन्त आवश्यक समझते हैं ।

## कतिपय भ्रान्तियों का निराकरण

( १ ) कुछ समय तक लोगों में यह धारणा प्रचलित थी और कुछ अशों तक अब भी है कि खड़ीबोली का जन्म ब्रजभाषा से हुआ है । सौभाग्यवश यह भ्रान्ति अब दूर हो रही है । ऐतिहासिक खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि खड़ीबोली ब्रजभाषा से स्वतन्त्र बोली थी और है । खड़ीबोली भी उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि ब्रज । खड़ीबोली में लिखी हुई कई रचनाएँ प्राप्त हुई हैं और कई लेखकों के नाम ज्ञात हुए हैं, जिनमें अमीर-खुसरो का समय सम्वत् १३१२ से १३८१ तक है । इस से भी पूर्व विक्रम की नवीं शताब्दी में लिखित 'कुवलयमाला' नामक

प्राकृत भाषा की पुस्तक में 'मेरे तेरे आओ' यह मध्य देश की भाषा का नमूना दिया गया है जिस से खड़ीबोली की प्राचीनता सिद्ध होती है। हेमचन्द्र के 'अपभ्रंश-व्याकरण' में आकारान्त शब्दों के रूप खास कर नोट किये गये हैं, जो खड़ीबोली की विशेषता है ( वज और राज-स्थानी में ये शब्द ओकारान्त हो जाते हैं ) ।

( २ ) दूसरी आन्ति यह फैली हुई है कि आधुनिक हिंदी गद्य की भाषा उर्दू से, अरबी-फारसी शब्दों को निकालकर, बनाई गई है। यह कथन सर्वथा निराधार है। हम ऊपर देख चुके हैं कि खड़ीबोली बहुत प्राचीन भाषा है। वह आरम्भ में दिल्ली-मेरठ के प्रान्त की भाषा थी। मुसलमानों ने यहाँ आने पर उसे अपनाया और वे उस में रचनाएँ करने लगे। पहले उन रचनाओं की भाषा बोलचाल की होती थी और ज्यादातर शब्द ठेक हिंदी के होते थे। बाद में उन्होंने उस में अरबी-फारसी के शब्द भरना प्रारम्भ किया, जिससे उर्दू का विकास हुआ। मुसलमानों के प्रसार के साथ-साथ खड़ीबोली का भी प्रसार हुआ। इस खड़ीबोली में राज्य-शासन से सम्बन्ध रखनेवाले अरबी-फारसी के शब्द भी रहे होंगे, जो धीरे-धीरे बोलचाल के शब्द बन गये। धीरे-धीरे खड़ीबोली उत्तरी भारत की राष्ट्रभाषा-सी बन गई और जिष्ट-ममुदाय के परस्पर के व्यवहार में काम आने लगी। पर यह रूप उर्दू-साहित्य की अरबी फारसी से लदा हुई भाषा से निकल था। उस में केवल बोलचाल के अत्यन्त प्रचलित विदेशी शब्द ही रहे होंगे और पड़ेलिखे परिडती की बोली में संस्कृत के तन्मय शब्द उसी प्रकार पाये जाते होंगे, जिस प्रकार पद लिख मुसलमानों की बोली में विदेशी शब्द। साथ ही दलित-व्यपरी आदि की भाषा में दोनों का ही अभि व रहा होगा। यही बोली के चलकर हिंदी गद्य की भाषा हुई।

ॐ अपभ्रंश शब्द-संग्रह ( गायकवाड छा. वि. प्र. सं. सं. २० ३३ ),  
भूमिका पृष्ठ ६२ में दिया हुआ उदाहरण ।

( ३ ) इसी प्रकार यह कथन भी भ्रान्तिपूर्ण है कि खड़ीबोली-गद्य की उत्पत्ति अंग्रेजों के आश्रय में हुई। अंग्रेजों के आश्रय में रहकर लिखनेवाले सर्व-प्रथम लेखक सदल मिश्र और लल्लूलाल थे। इन में सदल मिश्र की रचना का तो प्रचार नहीं हुआ और न उसका विशेष प्रभाव ही पड़ा। लल्लूलाल की भाषा में आधुनिक गद्य का पूर्वाभास नहीं मिलता। उनकी भाषा व्यवहारोपयोगी न थी; वह दैनिक जीवन की बातों के लिए अनुपयोगी सिद्ध हुई। उसका कोई प्रभाव, कुछ काल बाद होनेवाले लेखकों की भाषा पर, नहीं दिखाई देता। इसके अतिरिक्त उक्त दोनों लेखकों के पूर्व ही सदासुखलाल और इशा-अल्ला खाँ खड़ीबोली में रचना कर चुके थे। 'चकत्ता की पातसाही की परम्परा' नामक एक और ग्रन्थ लगभग इसी समय स्वतन्त्र रूप से लिखा गया था। इस से पहले की रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। अंग्रेजी प्रभाव से रहित सुदूर राजस्थान में 'मंडोर का वर्णन' नामक रचना खड़ीबोली की प्राप्त हुई है। लल्लूलाल के कुछ ही समय बाद राममोहन राय और जुगलकिशोर शुक्ल हुए, जिनका अंग्रेजों से कोई सम्बन्ध न था और जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से समाचार-पत्र निकाले। उनकी भाषा और लल्लूलाल की भाषा में कोसों का अन्तर है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि न तो खड़ीबोली के निर्माता लल्लूलाल ही थे और न अंग्रेजों के आश्रय में ही उस का निर्माण हुआ।

## आधुनिक काल

( १६२५— )

आधुनिक काल का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ होता है।

इस काल में गद्य का प्रचार द्रुतवेग से हुआ, गद्य-लेखन-शैली अनिश्चितता से निकलकर स्थिरता को प्राप्त हुई और अधिकांश साहित्यिक रचनाएँ गद्य की अपेक्षा गद्य में होने लगीं। इस काल में गद्य का



इस काल के उत्तरार्ध में भाषा को व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ। लेखकों की बढ़ती हुई उत्कृष्टता को करारा धक्का लगा। 'मरस्वती' ने निकलकर अन्धान्य पत्रिकाओं का दवा दिया। उसने आदर्श लेखन-शैली लेखकों के आगे उपस्थित की। पश्चिमी सभ्यता के मर्मों और संवर्ष में विषय-विस्तार हुआ और नये-नये विषयों पर रचनाएँ होने लगीं। आरम्भ में अनुवादों का बाहुल्य रहा पर आगे चलकर अच्छे-अच्छे मौलिक लेखक भी उत्पन्न हुए। हिन्दी के नवीन साहित्य के निर्माण का आरम्भ अभी हुआ है। इस काल में नागरी-प्रचारिणी सभा हिन्दी की सेवा करनेवाली प्रमुख संस्था रही। उस ने प्राचीन साहित्य के उद्धार और नवीन साहित्य के निर्माण में बहुत बड़ा कार्य किया है। आगे चलकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जन्म हुआ, पर परीक्षाओं इत्यादि के द्वारा हिन्दी-प्रचार करने के अतिरिक्त वह कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाया। हिन्दुस्तानी एंक्लेडेमी आधुनिक संस्था है और उसने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। हाल में ही भारतीय-साहित्य-परिषद नाम की महत्त्वपूर्ण संस्था स्थापित हुई है जिसका मुख्य उद्देश हिंदी द्वारा भारत के विभिन्न प्रान्तों के साहित्य का परस्पर परिचय कराना है।

पत्र-साहित्य में सम्बत् १९७५ तक 'मरस्वती' का ही प्रधानता रही। 'मयांदा' और 'प्रभा' भी अच्छी निकलीं। समाचार-पत्रों में 'भारत-मित्र' और 'प्रताप' का मूव प्रचार था। नवीन युग में 'विशाल भारत', 'हंस', 'मरस्वती', 'विश्वमित्र', 'मासुरी', 'मुद्रा', 'वीणा', 'रूपाम' आदि अच्छी पत्रिकाएँ निकल रही हैं। 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' और 'हिन्दुस्तानी' खोज-सम्बन्धी पत्रिकाएँ हैं। 'आज', 'प्रताप', 'अजुन' 'नवयुग' 'हिन्दुस्तान', 'विश्वमित्र', 'भारत', 'कर्मवीर' आदि प्रमुख समाचार-पत्र हैं। 'व्यागन्मि' 'भारती' और पात्रिक 'जागरण' नामक पत्र-पत्रिकाएँ भी बहुत अच्छी निकलीं पर चल न सकीं।



आगे बढ़ गये थे, पर साहित्य पीछे हो पड़ा था। वह अभी अपने पुराने ही रास्ते पर था और उस में वही पुराने ढंग की शृंगार, भक्ति आदि की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं। 'कभी-कभी कोई शिक्षा-संबंधी पुस्तक भी निकल जाती थी पर देश-काल के अनुकूल साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ था।' भारतेंदु ने हिंदी साहित्य को नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त किया।

गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उन्होंने ने उसे एक, बहुत ही चलाता हुआ, मधुर और स्वच्छ रूप दिया। भाषा का निखरा रूप भारतेंदु के साथ ही प्रकट हुआ। उन की भाषा में न तो लल्लुलाल का व्रजभाषापन है, न सदल मिश्र का पूरबीपन, और न मुन्शी मदासुख का पड़िताऊपन। इसी प्रकार वे न राजा शिवप्रसाद की भाँति उर्दूपन पचपाती थे और न राजा लक्ष्मणसिंह की भाँति विद्युद्धपन के। इन सब 'पनों' से उनकी भाषा बची हुई है। उन्होंने ने देख लिया कि शिवप्रसाद की भाषा जनता की भाषा से बहुत दूर है और इसी प्रकार लक्ष्मणसिंह की भाषा व्यवहारिकता से परे। प्रतिदिन प्रचलित और लोगों की जवान परनाचनेवाले अरबी-फारसी शब्दों को एकदम छोड़ देना भाषा की संचित शक्ति को घटाना है। हास्य और व्यंग्यात्मक शैली में ऐसे शब्द कितने उपयोगी होते हैं। इन्हीं कारणों से उन्होंने ने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। उन की भाषा में संस्कृत के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, पर यथाम्भव व्यावहारिक और तद्भव रूप में। इसी तरह बोलचाल के अरबी-फारसी शब्द भी उन्होंने ने बचाये नहीं, यद्यपि उन का प्रयोग तत्पक्ष रूप में नहीं हुआ है। संस्कृत शब्दों के होते हुए भी उन की भाषा सुयोग्य है और अरबी-फारसी शब्दों के होते हुए भी वह उर्दू नहीं जान पड़ती।

भारतेंदुजी की भाषा व्यवस्थित है। उस में ऐसे वाक्य नहीं मिलते जिन के विभिन्न उपवाक्य या वाक्यांग बग़ैर जुड़े हुए न हों। इसके





ने 'बाल-बोधिनी' नामक पत्रिका स्त्री-शिक्षा के प्रचार के वास्ते निकाली, पर वह अधिक दिन नहीं चली ।

संवत् १९३० में भारतेन्दु ने अपना सब से पहला मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन लिखा । इसके बाद उन्होंने और भी कई नाटक बनाये, जिन में 'सत्य-हरिश्चन्द्र', 'चंद्रावली' 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अंधेरनगरी' आदि उल्लेखनीय हैं । अनुवादित नाटकों में 'पाखंड-विडवन,' 'कर्पूरमञ्जरी,' और 'मुद्राराक्षस' बहुत प्रसिद्ध हैं । नाटकों के अतिरिक्त इतिहास-संबंधी पुस्तकें भी उन्होंने लिखीं ।

गद्य की भौति पद्य में भी उन्होंने युग-परिवर्तन किया । प्राचीन ढंग की रसपूर्ण कविता लिखने के साथ ही माध आधुनिक भावों से पूर्ण कविता भी रची । प्राचीन और नवीन का बड़ा ही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला में पाया जाता है ।

भारतेन्दु जी बड़े भारी सुधारक और देशप्रेमी थे । उनका देश-प्रेम उनकी रचनाओं में सर्वत्र पाया जाता है और यही उनकी रचनाओं का व्यापक भाव है ।

जैसा कि ऊपर कह आये हैं, भारतेन्दुजी के प्रोत्साहन से अनेक लोग हिंदी में लिखने लगे और हिंदी-लेखकों का एक खासा मण्डल तैयार हो गया । एक-एक करके नवीन लेखक कार्यक्षेत्र में उतर पड़े और हिंदी गद्य द्रुत वेग से आगे की ओर बढ़ चला । इन नवीन लेखकों का उत्साह अपूर्व था । वे सभी जिन्दादिल थे । उनकी भाषा में हास्य-विनोद की अच्छी बहार रहती थी । अधिकांश लेखक अपने साथ एक एक पत्र-पत्रिका भी लाये । जो नहीं लाये वे दूसरों के पत्रों में लिखने लगे । विषय-विविधता बढ़ी, पर अधिकांश लोगों ने निबंध ही लिखे । अनुवादों, विगेषतः बंगला के उपन्यासों के अनुवादों, का भी आरम्भ हुआ ।



हैं। उन्होंने संवत् १९३४ में 'हिन्दी-प्रदीप' पत्र निकाला, जिस के लगभग ३२ वर्ष के जीवन में उन्होंने विविध-विषयक लेख लिखे। उनकी लेखन-शैली में व्यक्तित्व की छाप पाई जाती है। विषय-चुनाव में भी विवेकपूर्ण है। साधारण विषयों पर भी उन्होंने बड़े सुन्दर लेख लिखे हैं। उनकी भाषा में मुहावरों का प्रयोग बहुत समीचीन हुआ है, जिस में शैली में रोचकता और आकर्षण उत्पन्न हो गये हैं। बीच-बीच में व्यंग की पुट भी मिलती है। उर्दू शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया है और वह भी तत्पम रूप में। इसी प्रकार अंग्रेजी शब्द भी स्थान-स्थान पर आये हैं। हिन्दी में गद्य काव्य के जन्मदाता भी भट्टजी ही माने जाते हैं। उनके 'श्राँसू' और 'चन्द्रोदय' नामक निबन्ध गद्य काव्य के अच्छे उदाहरण हैं।

प्रतापनारायण मिश्र (१९१३-१९५१) भी भट्टजी की भाँति हिन्दी के प्रमुख निबन्ध-लेखक हैं। उन्होंने भी उसी प्रकार साधारण विषयों पर सुन्दर रोचक निबन्ध लिखे हैं। उन की लेखन-शैली चटपटी और रोचक है। भाषा चलती हुई और मुहावरेदार है। उसमें देहाती कहावतों, चुटकुलों एवं छोटे-छोटे उद्धरणों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। हास्य और विनोद की अच्छी बहार मिलती है। जगह-जगह व्यंग के छोटे निराला मजा देते हैं। उन की रचनाओं में पाठकों के प्रति आत्मीयता का भाव विशेष पाया जाता है। वे केवल सुशिक्षितों के लिए ही लिखनेवाले नहीं थे, किन्तु साधारण पाठकों तक भी पहुँचानेवाले थे। भट्टजी की रचनाएँ कुछ विशेष नागरिकता लिये हुए हैं और मिश्रजी की रचनाएँ ग्रामीणता लिये हुए। मिश्रजी में विनोद की मात्रा भी अधिक है और उन का व्यंग अधिक चुभनेवाला है। इनकी शैली में मुहावरों और देहाती कहावतों का खूब प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं तो मुहावरों की अपूर्व झड़ी लग गई है (जैसे 'बात' शीर्षक निबन्ध में)। लेखकों के शीर्षक भी आकर्षक और कभी-कभी पूरे के-पूरे मुहावरों या कहावतों में ही होते थे। इन का कहने का ढंग बड़ा ही रोचक है, उसमें वार्तालाप का-सा आनन्द आता है।

मिश्रजी ने कई-क गंभीर लेख भी लिखे हैं जैसे निवृत्ति, मनोबोग आदि। उन की भाषा का रूप परिमार्जित नहीं है। कहीं-कहीं भावों को समझने में व्याधान पहुँचता है। व्याकरण-विषयक व्यक्तिक्रम भी ध्रुव तत्र मिलते हैं। मिश्रजी गद्य-लेखक होने के साथ ही कवि भी थे। उन की कई कविताएँ बहुत प्रसिद्ध हुईं और अब भी जनता की जमान पर नाच रही हैं, जैसे—हिंदी हिंदू हिन्दुस्तान, हर गंगा, गतरागनपाल कृपाल मनो, बुधारा आदि।

मिश्रजी बड़े ही चिंतोर्धी और मौजी तदीरन के आदर्मी थे। उनकी कता से बड़े भारी उपामक थे। हिंदी-भाषा और देवनागरी-लिपि के बड़े हिमायती थे। हिंदी हिंदू हिन्दुस्तान—यह उन का मिश्रान्त-शब्द था। उनके अधिराज लेखों में समाज-सुधार की तीव्र भावना पाई जाती है।

वर्तमानाचार चौधरी ( १८१२-१८८० ) की शैली समकाल की शल्लोकमयी है। उन्हो ने भाषा को काष्ठीकृत बनाने का प्रयत्न किया। उनके वाक्य लम्बे और प्रत्यक्ष कल्पप्रामाण्य होते थे, साधारण बातों के भी बड़े गिजा से कहते थे। इस से उनकी शैली कठिन हो गई है जो साधारण-वार्तिक राज परती है। फिर भी उस का साहस्य गिजाना है।

हर्षिधर व्याधाय प्रेमचंदी के कृत्य है। ये भी बहुत लम्बे निबन्ध लेखक थे। इन की भाषा साधारण होने के लिये ही हिंदी की शैली पर प्रभावित है।

वर्णन और गद्य-काव्य की अच्छी बहार है। बाण का प्रभाव इन की शैली पर भी बहुत पाया जाता है। वाक्य-रचना संस्कृत-शैली से प्रभावित है और कहीं-कहीं वाक्य लम्बे होने से वाक्याङ्गों का परस्पर-सम्बन्ध सहज ही स्पष्ट नहीं होता।

श्रीनिवासदास की शैली व्यावहारिक है। इनकी दो रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं—(१) परीक्षागुरु (उपन्यास) और (२) रणधीर-प्रेममोहिनी नाटक। इनकी भाषा प्रौढ़ है। उस में प्रचलित उर्दू शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं प्रान्तीयता भी झलकती है।

## द्विवेदी-युग

[ १६५५-१६७५ ]

यह युग महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'सरस्वती' का युग है। इस युग के आरम्भ में कई महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं, जिन से हिंदी की उन्नति को प्रोत्साहन मिला। संवत् १६५१ में श्यामसुन्दरदास, रामनारायण मिश्र और शिवकुमारसिंह ने नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की। भारतेन्दु के फुफेरे भाई राधाकृष्णदास इस के प्रथम सभापति हुए। इस सभा के द्वारा हिंदी का महान् हित-साधन हुआ। अपनी स्थापना के बाद ही उसने संयुक्तप्रान्त की अदालतों में नागरी अक्षरों के प्रचार का आन्दोलन उठाया। महामता मदनमोहन मालवीय इस आन्दोलन के प्राण थे। फलस्वरूप सन् १६७७ में सरकार ने अदालतों के लिए नागरी अक्षरों को स्वीकार कर लिया। अन्योन्य हिन्दू राज्यों में भी अभी तक फारसी या उर्दू का बोलचाल था, पर अब धीरे-धीरे उन्होंने ने भी हिन्दी और नागरी को स्थान दिया। इस के कुछ ही पूर्व हिंदी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के लिए सरकार ने नागरी-प्रचारिणी-सभा को आर्थिक सहायता देना मंजूर किया। इसी समय सभा ने हिन्दी की उच्च कोटि की सामिक-पत्रिका निकालने का विचार किया और फलस्वरूप 'सरस्वती'

का जन्म हुआ। प्रयाग के इण्डियन प्रेस ने इसे प्रकाशित करने का भार लिया। 'सरस्वती' का भीतरी और बाहरी रँग-रूप अवनक के पत्रों से सर्वथा निराला था और वह धूमधाम से चल निकली। आगे चलकर महावीरप्रसाद द्विवेदी उस के सम्पादक हुए और तब से पन्द्रह-बीस वर्ष तक हिंदी-संसार में वह सर्वश्रेष्ठ पत्रिका रही। उस की भाषा और लेखन-शैली सदा आदर्श मानी जाती रही।

द्विवेदीजी ( १६२१-१६२५ ) का स्थान हिंदी-साहित्य में बहुत ऊँचा है। उन का महत्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समान ही है। उनके साहित्यक्षेत्र में आने के साथ हिंदी के इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ होता है। आप सफल पत्रकार, उच्च कोटि के गद्य-लेखक, और साथ ही कवि भी थे। खदीयोली को कविताक्षेत्र में प्रवेश कराने के लिए आप ने बहुत प्रयत्न किया। हिंदी के सर्वप्रिय सुप्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त आप ही के शिष्य एवं अनुयायी हैं।

हरिश्चन्द्र-युग में हिंदी की गद्य-शैली स्थिर तो हो चुकी थी, पर अभी उस में अनेक त्रुटियों थीं। व्याकरण और गठन की दृष्टि से भाषा परिष्कृत नहीं हो पाई थी। विराम आदि का भी बराबर ध्यान नहीं रखा जाता था। द्विवेदीजी जैसे व्याकरण-वेत्ता और प्रामाणिक विद्वान् के हाथों व्याकरण की शुद्धता और भाषा के परिष्कार का काम बड़े सुन्दर रूप से सम्पन्न हुआ। उन्होंने लाखों की भाषा-सम्पत्तियों निरवुरताओं, अशुद्धियों और व्याकरण व व्याकरण की वही आलोचना करके उनको सतर्क बनाया। द्विवेदीजी आपका सम्पादक थे सम्पादन में बड़ा परिश्रम करते थे। भाषा का उत्कृष्टता दूर तक उस व्याकरण-सम्मत और व्यवस्थित बनाने के लिए हिंदी-साहित्य सब उस का श्रेष्ठ रत्न।

इस युग में उद्योग-प्रतिष्ठा का भी हिंदी का भार नुक। पश्चिमी साहित्य के प्रभाव भी धार धार पहन लगा। विषय-विस्तार हुआ लगा। नये नये विषयों पर रचना होने लगी। पर मौखिक साहित्य अधिक

नहीं लिखा गया। अनुवादों का ढेर लग गया और इन में भी अधिकांश बँगला से अनुवादित उपन्यासों की रही। आरम्भ में काशी के देवकीनन्दन खत्री के पेयारी और तिलस्मी उपन्यासों की धूम रही। उन का सूत्र प्रचार हुआ और बहुत-से लोगों ने तो उन्हें पढ़ने के लिए ही हिंदी सीखी। इस से हिंदी-प्रचार में बहुत सहायता मिली। सन्वत् १९६३ में नागरी-प्रचारिणी सभा के उद्योग से हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का जन्म हुआ। सम्मेलन की परीक्षाओं द्वारा भी हिंदी का बहुत प्रचार हुआ।

### निबन्ध

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी सफल पत्रकार के अतिरिक्त उच्च कोटि के गद्य-लेखक थे। उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक होने के साथ-साथ आप अच्छे समालोचक भी थे। आप ने कई अनुवाद भी किये और इन क्षेत्र में भी आप सब से अधिक सफल हुए। आप के अनुवादों में मूल का आनन्द आता है। द्विवेदीजी का भाव-स्पष्टीकरण का ढंग अत्यन्त सुबोध है; एक ही बात को कई तरह से कहकर उसे बिल्कुल स्पष्ट कर देना यह आप की शैली का एक विशेष गुण है। लेखों में भाषणों की-सी धारावाहिकता पाई जाती है। आप की भाषा में उर्दू, अंग्रेजी आदि भाषाओं के प्रचलित और सुबोध शब्दों का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। विषयानुसार आप की शैली व्यङ्गात्मक, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक और गवेषणात्मक आदि रूपों को धारण करती है। व्यङ्गात्मक लेख लिखने में आप अनुपम हैं, उनमें बिल्कुल बातचीत का-सा आनन्द आता है। गवेषणात्मक शैली में तन्मय शब्दों की अधिकता रहती है। विषय दुर्लभ होते हुए भी आप की कुशल लेखनी में भावों का स्पष्टीकरण इतना बोधगम्य हो जाता है कि 'सभी भाव नुलकी हुई लड्डियों की भाँति पृथक्-पृथक् दिवाड़े पड़ते हैं।'।

सम्पादकीय कार्यव्यवस्था के कारण द्विवेदीजी को स्वतंत्र रचनाएँ करने का अवसर बहुत थोड़ा मिला। उनकी अधिकांश रचनाएँ और अधिकांश निबंध अन्य भाषाओं के आधार पर लिखे हुए हैं।

बालमुकुन्द गुप्त ( १६२२—१६६४ ) हस्तिनापुर-युग में ही लिखने करने जाये थे। पर उनकी विशेष प्रसिद्धि 'भारतमित्र' में जाने पर हुई। गुप्तजी भी द्विवेदीजी की भाँति व्याकरण के बड़े भारी विद्वान् थे। वे पहले उर्दू में लिखते थे। उर्दू से हिंदी में आये, अतः उन की भाषा सुसंस्कृत, सुहास्येदार, चञ्चली हुई और चटपटी है। दोष-दोष में दण्ड और विनोद की निराली छटा मिलती है। द्विवेदीजी की भाँति उन्हो ने भी अरबी-फारसी आदि के प्रचलित शब्दों और मुहावरों का प्रयोग गूँथ लिया है। उनकी गालोचनाएँ दर्दा तीव्र और चुनती हुई होती थीं।

अयोध्यामिश्र ( १६२२— ) उपाध्यायजी विनोदतया धर्म के रूप में प्रसिद्ध हैं पर साथ साथ गद्य लेखक भी हैं। साथ अपनी इस विनोदता के लिए प्रसिद्ध हैं कि पठित से कठिन और सार से सार मीलों में गद्य एवं पद्य दोनों प्रकार की रचनाएँ कर सकते हैं। प्रिय-प्रधान की भाषा अत्यन्त संस्कृत-भारित और हिष्ट है तो दोलचाल, दोनो चौपदे, सुभते चौपदे दिलबुल दोलचाल की भाषा में लिखे गये हैं। ठेठ हिंदी या ठठ और अधमिला पूल नामक परान्दों की भाषा ठेठ हिंदी है तो अधमिला पूल की भूमिका तथा उनके पद्य में सार्थि प्रबन्ध संस्कृत-भारित हिन्दी के साथ उदाहरण है। उदाहरण का उदाहरण में साथ मुहावरों का बहुत प्रयोग करने का है। उदाहरण का उदाहरण में साथ में जो उदाहरण-रचनाएँ की हैं वे उदाहरण का उदाहरण हैं। मुहावरों का बहुत प्रयोग करने की साथ में उदाहरण का उदाहरण है। उदाहरण में उदाहरण का उदाहरण है।



माधवप्रसाद मिश्र और सरदार पूर्णसिंह के नाम विशेष प्रसिद्ध नहीं हैं, परन्तु ये दोनों टबकोटि के निबन्ध-लेखक थे। 'मिश्रजी की अकाल-मृत्यु से हिंदी का एक अच्छा निबन्ध-लेखक उठ गया।' उन के थोड़े ही लेख देखने को मिले। उन की भाषा-शैली में एक अपूर्व धारा-प्रवाह पाया जाता है और भाषा सर्वत्र भागतुरूप तथा भावावेगमय है।

पूर्णसिंह ( १६३७-१६८८ ) ने भी दो ही चार निबन्ध लिखे, परन्तु वे ही उन्हें अमर बनाने के लिए पर्याप्त हैं। वे बड़े भारी विद्वान् और अंग्रेजी आदि कई भाषाओं के मर्मज्ञ थे। उन के निबन्ध विशेषतः भावान्मक हैं। कहने का ढंग बड़ा चमत्कारिक और कहीं-कहीं रहस्यमय है। बीच-बीच में व्यङ्ग्यमय दृष्टान्त आने से शैली बड़ी रोचक और आकर्षक हो गई है। जगह-जगह इन की शैली में एक ही वाक्य के जोड़तोड़ के अनेक वाक्य लगातार आते गये हैं। विशेषण और विशेष्य का विरोधान्नास भी स्थान-स्थान पर बड़ा प्रभावशाली हुआ है। भाषा में उर्दू शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। उनके निबन्धों में नयनों की गंगा ( वन्द्यादान ), आचरण की सम्यता, मजदूरी और प्रेम, सच्ची वीरता तथा पवित्रता विशेष उल्लेखनीय हैं।

श्यामसुन्दरदास ( १६२८— ) का हिन्दी-साहित्य में एक विशेष स्थान है। आपका हिन्दी-प्रेम अपार है। विद्यार्थी अवस्था में आप ने अपने मित्रों के सहयोग से नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना की और उस के द्वारा हिन्दी का जो उपकार हुआ है, उसका कुछ उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हिन्दी को प्रमुख स्थान दिलाने और उसका प्रचार करने में आप का प्रमुख हाथ है। जो कार्य हिन्दी के निर्माण और स्थिरीकरण में द्विवेदीजी ने किया वही उस के प्रचार और परिवर्धन में श्यामसुन्दरदास ने किया। आधुनिक हिन्दी के ये दो महान् स्तम्भ हैं। सभा की सफलता का अधिकांश श्रेय आप को ही है। आप की अध्यक्षता में हिन्दी के सब से बड़े कोष 'हिन्दी शब्दसागर' का निर्माण हुआ। इस के

प्रातिरिक्त आप ने इनके महत्वपूर्ण पुस्तकों का सम्पादन और निर्माण किया तथा कराया। द्विवेदी-युग में आप का कार्य विरोधनः सम्पादन का रहा, पर नवीन-युग में आप ने कई उद्यमों की मौलिक पुस्तकें लिखीं। आप की मौली के हम दो रूप पाते हैं। पुरानी रचनाओं की मौली बहुत मजबूत है पर नवीनकाल की रचनाएँ सर्वथा भिन्न मौली में हैं। विषय की दुरिहाता के कारण यह बहुत कठिन हो गई है। उस में प्रज्ञात्मक गुण-प्रधान है। सुलभता और व्यंग्यतात्मकता नहीं मिलती, अतः स्त्री की जान पड़ती है। आप ने जिन विषयों पर लिखा वे सब हिंदी के लिए नवीन थे। मौली की विलक्षणता का यह भी एक कारण है। ऐसे विषयों पर लिखकर आपने भाषा को व्यापक बनाया और उस की व्यञ्जनाशक्ति को बढ़ाया है। यद्यपि आप प्रचलित उर्दू शब्दों के प्रयोग के विरोधी नहीं हैं, फिर भी आप की रचनाओं में उर्दू शब्द देखने में ही नहीं मिलें तो मिलें।

जगन्नाथप्रसाद घनवंशी हृदयस्पर्शक रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं।

चन्द्रधर मर्मा गुलेरी सत्कृत के प्रकार से परिचित थे। उन के निबन्ध सब ही पारिष्टत्यपूर्ण होते थे। उन में गंभीर और पारिष्टत्यपूर्ण निराशा साहचर्य पाया जाता है। गुलेरीजी की रचनाओं में एक विचित्र शक्ति है। मौली चलती हुई है और सुहावने से सज्जित प्रयोगों में उस में सर्वत्र सजीवता भरी मिलती है। साथ ही साथ 'प्रसन्नमनस' का शब्द आनन्द भी मिलता है।

गणपत शुक्ल (१८४१—) हिंदी के कठोर लेखक हैं। उन का नाम सभी विद्यार्थीयों के लिए निर्दोषता में स्थापित हो चुका है। उन की सभी रचनाएँ गिर से घेर लक में लिखी हैं। उन की मौली में व्यंग्य की शक्ति उस पर ही उभरी है। उन की भाषा संस्कृत, पारिष्टत्य, प्रसन्नमनस सर्वत्र संगठित है। उन के लेखों में भाषा की व्यञ्जनाशक्ति को बढ़ाने में सभी सहयोगी हैं। उन के निबन्ध निबन्धों में सब प्रकार, उपकार के निबन्धों पर ही भाषा के विविध विषयों पर। उन के निबन्धों में

इन मनोविकारों का बहुत सुन्दर मनोवैज्ञानिक विरलेपण हुआ है। साहित्यिक निबन्ध सारगर्भित और गवेषणा-परिपूर्ण हैं। उन की चिन्ता अत्यन्त सुलभी हुई है और उन की अभिव्यक्ति बहुत स्पष्ट है। भाषा में व्यर्थ शब्दाडम्बर कहीं नहीं पाया जाता। उर्दू शब्दों का प्रयोग स्थान स्थान पर मिलता है, पर बड़ा ही जँचता हुआ। विनोदपूर्ण व्यङ्ग जहाँ आया है, वहाँ ऐसे शब्दों का प्रायः प्रयोग हुआ है। गंभीर विवेचना के कारण भाषा कहीं-कहीं दुरुह अवश्य हो गई है, पर उस के बीच-बीच में व्यङ्ग के छोटो को बहार पाठक को ऊबने नहीं देती।

शुक्लजी के महत्व की वास्तविकपरिदर्शक उन की समालोचनाएँ हैं, पर वे, प्रायः सभी, द्विवेदी युग को नहीं, किन्तु नवीन-युग की रचनाएँ हैं। इन समालोचनाओं द्वारा शुक्लजी ने समालोचना-क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित कर दिया और समालोचकों के आगे एक नवीन आदर्श रक्खा। शुक्लजी अच्छे कवि भी हैं।

लाला गुलाबराय के निबन्ध एक नवीन शैली के हैं। भावपूर्ण और विचारपूर्ण दोनों प्रकार के निबन्ध उन्होंने लिखे हैं।

### समालोचना

महावीरप्रसाद द्विवेदी का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उन की आलोचनाएँ उच्छृङ्खल लेखकों के लिए अच्छे नियंत्रण का काम करती रही। हिंदी-गद्य के व्याकरण-विरोध आदि दोषों को दूर करने में उन्होंने बड़ा काम किया।

मिश्रचन्द्राओं ने सबसे पहिले प्राचीन कवियों और उनकी कविताओं पर बड़ी-बड़ी आलोचनाएँ लिखी। वास्तविक आलोचना का आरम्भ यहीं से समझना चाहिए। पद्मसिंह शर्मा ( १९३३-१९८९ ) ने तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया और विहारी पर विलुप्त आलोचना लिखी। उन की लेखनशैली हिंदी में अपनी विशेषता रखती है। उस पर गहरी व्यक्तित्व की छाप है एवं वह आकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण है। उस में एक निगली 'उड़लकूद तथा लपकलपक'

पाई जाती है। संस्कृत और उर्दू शब्दों का रुचिकर मिश्रण उन की गैली में हुआ है। चुभता हुआ व्यंग्य लिखने में वे दक्ष थे। उन की भाषा मजीब, प्रवाहपूर्ण एवं उछलती हुई है। उन का अध्ययन बहुत विस्तृत था पर वे 'कला के गंभीर अनुशीलक' न थे। उन की आलोचनाओं में ऊपरी बाहवाह हो मिलती है। शुक्लजी की तरह वे कवि के अन्तर्गत तक हमें नहीं पहुँचा सकते। उन के निबन्धों में लेखन-शैली सुन्दर होती है, भी न्यायित्व का कोई गुण नहीं है।

ग्राममुन्दरदास ने चंद और तुलसी पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। इन के आलोचनात्मक ग्रन्थ आगे नवीन युग में निकले। लाला भगवानदीन बड़ी आलोचना के लिए प्रसिद्ध हैं।

### नाटक

हम युग का नाटक-साहित्य विशेषतः अनुवाद-रूप में है। लाला सीताराम ने, हरिचन्द्र-युग के अन्तिम और इस युग के प्रारम्भिक भाग में संस्कृत के अनेक नाटकों का अनुवाद किया। दूसरे प्रसिद्ध अनुवादक सत्यनारायण कविराज हैं, जिन्होंने भवभूति के उत्तर-राम-चरित और मालती-माधव का अनुवाद किया। द्विवेदी-युग के अन्तिम वर्षों में नृपनारायण पाटेल और रामचन्द्र वर्मा आदि ने बंगला के द्विजेंद्रलाल शर्मा के नाटकों का अनुवाद किया, जिन की बहुत धूम रही। बंगला के और और नाटकों का भी अनुवाद हुआ।

मालिक लेखकों में राधाकृष्णदास, देवीप्रसाद 'पूत' और नाथन शुक्ल के नाम उल्लेखनीय हैं। राधाकृष्णदास का राजस्थान-क्षेत्री का महाकाव्य प्रत्यक्ष बहुत प्रसिद्ध हुआ और कई बार अभिनेत भी हुआ। 'पूत' ने साहित्य के विविध अंगों से परिपूर्ण समग्र-आनुकूल्य नामक बहुत बड़ा नाटक लिखा पर अभिनेय-योग्य न होने से वह प्रसिद्धि प्राप्त न कर सका। नाथन शुक्ल का महाभारत नामक अभिनेय-योग्य होने से बड़े नाटक-समर्थक द्वारा खेला गया।

### उपन्यास

इस युग के पूर्व की बँगला के उपन्यासों का अनुवाद आरम्भ हुआ था। इस काल में वह और भी जोरों से होने लगा, पर उच्च कोटि के उपन्यासों के अनुवाद बहुत कम हुए। अन्तिम भाग में रवीन्द्रनाथ ठाकुर कई उत्कृष्ट उपन्यास अनुवादित होकर हिंदी में आये। इन अनुवादों में रूपनारायण पाण्डेय और ईश्वरीप्रसाद शर्मा उल्लेखनीय हैं। गणेश चन्द्र वर्मा ने भी कई उपन्यासों का अनुवाद किया जिन में सरादी के छत्रसाल महत्वपूर्ण हैं।

मौलिक उपन्यास-लेखक बहुत कम हुए। देवकीनन्दन खत्री, पेयारी और तिलस्म के उपन्यासों ने निकलकर हिंदी-संसार में धूम मचा दी। इन की गिनती साहित्य में नहीं की जा सकती, पर इन की भाषा शैली बड़ी ही चलती हुई, व्यावहारिक और रोचक है। 'हिंदी के जितने पाठक इन उपन्यासों ने उत्पन्न किये, उतने और किसी ने नहीं।' इस प्रकार हिंदी-प्रचार में इन से बड़ी सहायता मिली।

हिंदी के पहले वास्तविक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी कहे जा सकते हैं। इन्होंने टेर के टेर उपन्यास लिखे। पर उन में भाषा की स्थिरता नहीं पाई जाती। किसी में अरबी-फारसी से भी हिंदी है, तो किसी में ब्रिजकुल संस्कृतमयी।

अयोध्यासिंह उपाध्याय ने १९०६ में ठेठ हिंदी का टाट और १९६४ में अग्रविना फूट लिया। इनका महत्त्व उपन्यास-सम्वन्धी नहीं किन्तु ठेठ बोली की रचनाएँ होने के कारण है।

मंदता लज्जाराम शर्मा ने सामाजिक और गार्हस्थ्य विषयों के ३ उपन्यास लिखे। ब्रजवन्दनसहाय में नवीन युग के उपन्यास-लेखक आभास मिलता है। इन के उपन्यास भाव-प्रधान हैं उन का लक्ष्य चित्र-चित्रण या घटना-प्रचित्रण नहीं, किन्तु मनोविकास का विकास दर्शन है।



हिंदी का दूर-दूर तक प्रचार हुआ। सुदूर मद्रास प्रान्त में भी हिंदी बहुत लोकप्रिय हो पड़ी। इसका श्रेय दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा को है। इस प्रकार हिंदी धीरे-धीरे भारत की राष्ट्रभाषा बन रही है। राष्ट्रभाषा की अधिकारिणी तो वह कभी की मानी जा चुकी है।

### निबन्ध

इस युग में कई अच्छे निबन्ध-लेखक साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। जयशंकर 'प्रसाद' हिंदी की एक महान् विभूति थे। उन की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार तो थे ही, साथ ही उच्चकोटि के कहानी-लेखक, उपन्यास-कार और निबन्ध-लेखक भी थे। पिछले दिनों में उन के कई अच्छे निबन्ध प्रकाशित हुए जैसे—राज्य और कला, यथार्थवाद और छायावाद, आरम्भिक पाठ्यकाव्य, नाटकों का आरम्भ, रस, नाटकों में रस का प्रयोग, आदि। निबन्धों में विषय का गम्भीर दार्शनिक विवेचन मिलता है। प्रभादजी की भाषा शैली बहुत कठिन है। उस में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता रहती है। इन निबन्धों की विषय-गम्भीरता ने तो शैली को और भी क्लिष्ट बना दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि आप के निबन्ध साहित्य की स्थायी संपत्ति हैं। नाटकों की भूमिका या परिशिष्ट रूप में आपने जो ऐतिहासिक विवेचनापूर्ण निबन्ध लिखे हैं उनकी भाषा अपेक्षाकृत सरल है।

वियोगीहरि और राय कृष्णदास के निबन्ध भाषात्मक और रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रंग लिए हुए हैं। उन पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दोनों लेखकों ने अन्य प्रकार के निबन्ध भी लिखे हैं। राय कृष्णदास (१९४६—) की रीति में भाषा और भावों का मणिक्राचन-संयोग पाया जाता है जैसा हिंदी में कम लेखने में आता है। वाक्य छोटे-छोटे और प्रवाहपूर्ण होते हैं। शब्दों का चुनाव बड़ा मनोहर होता है। तदभव शब्दों का सुन्दर प्रयोग इन के लेखों में मिलता है। दृढ़ानी शब्द भी जगद-जगद आये हैं। आप की रीति में बड़े-बड़े समस्त पद कहीं नहीं मिलते।





भावों में समावेश है। उन की भाषा बड़ी ओजस्विनी है। देवर्मा 'अमय' जौगरी के गुरुकुल के आचार्य रह चुके हैं। आप अत्यंत विचारशील लेखक हैं। आप के निबंध मॉटेन तथा लैम्ब आदि की स्वच्छन्द प्रणाली पर लिखे हुए हैं।

श्रीराम शर्मा 'हिन्दी साहित्याकाश में उदीयमान एक नवीन नक्षत्र के रूप में चमके'। आप की पहली ही रचना ने लोगों का ध्यान आकर्षित कर लिया। आप का जीवन साहित्यिक घटनाओं में परिपूर्ण रहा है। दुःसाहन के कायों में पढ़ने की रचि आप को बचपन में रही है। दस-चारह वर्ष की अवस्था में ३६ फीट गहरे अन्धे कुँए में उतरकर वहाँ एक भयंकर मौसम का सुकायला कितना बड़ा दुःसाहन है। आप अत्यंत शिकारी हैं। आप का हृदय जितना साहसपूर्ण है उनना ही कोमल भावों में भरा हुआ है। आप के निबन्ध वर्णनात्मक और शिकार-संबंधी हैं। वर्णन-शैली बड़ी ही सजीव, रोचक और ओजस्विनी है। कवित्व का संयोग स्थान-स्थान पर मिलता है। प्राकृतिक वर्णन की बहार भी अच्छी है। स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में 'आप लेखों में शिकार और शिकारी की चित्तवृत्ति का ऐसा जीता-जागता चित्र खींचते हैं कि देखकर सहृदय पाठक आश्चर्य-चकित रह जाता है। आप की वर्णन-शैली सजीव, भाव-विश्लेषण मनोविज्ञान-मन्मत, और भाषा विषय के अनुरूप सुघड होती है।'.....आप ने हिंदी-साहित्य को नवीन पथ पर अग्रसर किया है। आपके पिछले लेखों में वह आकर्षण नहीं पाया जाता जो इन शिकार-सम्बन्धी निबंधों में था।

चतुरमेन शास्त्री के निबंध भावावेशपूर्ण हैं। वेचन शर्मा उग्र के निबंधों में भावावेश की उग्रता है। उनमें भाषा का अपूर्व धार-प्रवाह है। क्या भाषा, क्या भाव क्या कल्पना सभी दृष्टियों से उनकी रचनाएँ अनोखी हैं। महाराजकुमार रघुवीरसिंह का तान नाम का निबंध बहुत उच्चकोटि का है। वासुदेवगरण अग्रवाल का मानृभूमि नामक निबंध भी अपने ढंग का अनोखा है। नवीन लेखकों में जैनेन्द्रकुमार और हजारीप्रसाद द्विवेदी उच्चकोटि के निबन्धकार हैं।

















थे किन्तु साहित्यक जीव भी थे। आप की शैली सरल, सुबोध, और रोचक है। उस में साहित्यक सरसता मिलती है। भाषा प्रवाहमयी, परिमार्जित और सुसंस्कृत है। विज्ञान जैसे रुखे विषय को आप ऐसा सरस बना देते हैं कि साधारण जन भी रुचि से पढ़ें। हिंदू पुराणों की बातों का, जिन को आधुनिक लोग असम्भव कल्पनाएँ कहते हैं, आप विज्ञान के साथ सुन्दर सामंजस्य करते थे। आप के विज्ञान-हस्तमलक नामक ग्रन्थ में आधुनिक विज्ञान की सभी शाखाओं का बड़ा रोचक परिचय है। सत्यप्रकाश ने सा. 1 पर अच्छे ग्रन्थ लिखे हैं। डाक्टर गोरखप्रसाद के सौर- और फोटोग्राफी नामक ग्रन्थ उच्चकोटि के हैं। प्राणिशास्त्र में वजेश बहादुर का जंतु-जगत् उल्लेखनीय है। स्वास्थ्य पर जिलोकीनाथ वर्मा का स्वास्थ्य और रोग तथा हमारे शरीर की रचना, मुकुंदस्वरूप शर्मा का मानवशरीररहस्य तथा स्वास्थ्यविज्ञान महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। फूलदेवसहाय वर्मा ने रसायन-शास्त्र पर और निहालकरण सेठी भौतिक-विज्ञान पर सुन्दर ग्रन्थ लिखे हैं।

भौगोलिक साहित्य की सृष्टि करने में भूगोल-संपादक रामनारायण मिश्र बराबर प्रयत्नशील हैं। यात्रा-संग्रन्धी ग्रन्थों में शिवप्रसाद गुप्त की पृथ्वी-प्रदक्षिणा सर्वश्रेष्ठ है। उसके अतिरिक्त रामनारायण मिश्र और गौरीशंकरप्रसाद का यूरोप में छः मास, श्रीगोपाल नेवटिया का काश्मीर, और स्वामी मन्यदेव के नियम तथा मेरी जर्मन-यात्रा आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

यात्रा-संग्रन्धी वर्तमान लेखकों में राहुल सांकृत्यायन का स्थान सर्व उँचा है। आपने दूर-दूर के दुर्गम स्थानों की यात्राएँ की हैं और उनमें अत्यन्त रोचक वर्णन अपने लेखों एवं ग्रन्थों में किया है।

अर्थशास्त्र के लेखकों में प्राणनाथ विद्यालंकार, भगवानदास तैला, दयारामर द्वे आदि के नाम उल्लेख के योग्य हैं।



थे किन्तु साहित्यिक जीव भी थे। आप की शैली सरल, सुबोध, और रोचक है। उस में साहित्यिक सरसता मिलती है। भाषा प्रवाहमयी परिमार्जित और सुसंस्कृत है। विज्ञान जैसे रूखे विषय को आप ऐसा सरस बना देते हैं कि साधारण जन भी रुचि से पढ़ें। हिंदू पुराणों की बातों का, जिन को आधुनिक लोग असम्भव कल्पनाएँ कहते हैं, आप विज्ञान के साथ सुन्दर सामंजस्य करते थे। आप के विज्ञान-हस्तमलक नामक ग्रन्थ में आधुनिक विज्ञान की सभी शाखाओं का बड़ा रोचक परिचय है। सत्यप्रकाश ने रसायन पर अच्छे ग्रन्थ लिखे हैं। डाक्टर गोरखप्रसाद के सौर-जगत और फोटोग्राफी नामक ग्रन्थ उच्चकोटि के हैं। प्राणिशास्त्र में ब्रजेश बहादुर का जंतु-जगत उल्लेखनीय है। स्वास्थ्य पर त्रिलोकीनाथ वर्मा का स्वास्थ्य और रोग तथा हमारे शरीर की रचना, मुकुंदसूर्य शर्मा का मानवशरीररहस्य तथा स्वास्थ्यविज्ञान महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। फूलदेवसहाय वर्मा ने रसायन-शास्त्र पर और निहालकरण मेठी ने भौतिक-विज्ञान पर सुन्दर ग्रन्थ लिखे हैं।

भौगोलिक साहित्य की सृष्टि करने में भूगोल-संपादक रामनारायण मिश्र बराबर प्रयत्नशील हैं। यात्रा-सम्यग्री ग्रन्थों में शिवप्रसाद गुप्त की पृथ्वी-प्रदक्षिणा सर्वश्रेष्ठ है। उनके अतिरिक्त रामनारायण मिश्र और गौरीशङ्करप्रसाद का यूरोप में छ मास, श्रीगोपाल नरदिया का कार्मरी और स्वामी मयदेव के निषध तथा मेरी गर्मन-यात्रा आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

यात्रा-सम्यग्री वर्तमान लेखकों में गङ्गात मातृभाषन का स्थान सर्वोच्च है। आपने दूर दूर के दुर्गम स्थानों की यात्राएँ की हैं और उनका अत्यन्त रोचक वर्णन अपने लेखों एवं ग्रन्थ में किया है।

अबेगात्र के लेखकों में प्राणनाथ त्रिपाठिकार, भगवानराय दास, दयानन्द द्विवे आदि के नाम उल्लेख के योग्य हैं।

भाषाविज्ञान का अर्भी आत्मान ही समझिये । फिर भी दो चार इलेखनीय कृतियाँ विद्यमान हैं, जिनमें ज्ञानमुन्दरदास गलिनीमोहन गन्याल और मंगलदेव के भाषा विज्ञान महत्वपूर्ण हैं । ज्ञानमुन्दरदास और पद्मनाभराय आचार्य का भाषाग्रहण इतने विषय का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है । धीमेन्द्र वर्मा का हिंदी-भाषा का इतिहास करने विषय का पहला महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । कसनाप्रसाद शर्मा ने हिंदी का विस्तृत व्याकरण लिखा है ।

ममालोचन-विज्ञान-संस्कृत पुस्तकों में ज्ञानमुन्दरदास के साहित्या-लोचन और रस-ग्रहण रामचन्द्र शुक्ल का काव्य में रहस्यवाद, लक्ष्मीनाथरायसिंह मुशसु का काव्य में अनिर्वर्ण्यतावाद, पद्मनाभराय मुशसु का विवेकसाहित्य, पदमाला पोद्दार का काव्य-रसग्रहण (मर्दान्न संस्करण) प्रहल्लाद केटिया का भारती-भूषण, गुलाबराय का मधुरा, रामहरण शुक्ल का काव्य-विज्ञान, आदि रचनाओं के नाम लिखे जा सकते हैं । अतः इस विषय का कोई सर्वव्यापी एक ही ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ । उस विषय की अधिकांश पुस्तकें खराबी हैं ।

हैं और मराठी के ज्ञानकोष का अनुवाद भी हो रहा है। कुछ अन्यान्य अनुवादों का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

### टीकाकार और सम्पादक

सम्पादकों और टीकाकारों में सबसे महत्त्वपूर्ण नाम जगन्नाथदास रत्नाकर, श्यामसुन्दरदास, लाला भगवानदीन, पद्मसिंह शर्मा और रामचन्द्र शुक्ल के हैं। रत्नाकरजी ने हिंदी के न-जाने कितने प्राचीन काव्यों का सम्पादन करके उन्हें छपवाया था। नवीन युग में उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन किया—(१) बिहारी-सतमई, जिस की उन्होंने टीका भी लिखी, और (२) सूरसागर। दुर्भाग्यवश सूरसागर का पूरा सम्पादन वे अपने जीवन में नहीं कर सके। उन के कार्य को नागरी-प्रचारिणी सभा ने अन्यान्य विद्वानों से पूरा करवाया। श्यामसुन्दरदास ने पृथ्वीराज रासो, रामचरितमानस आदि पचासों ग्रन्थों का सम्पादन किया। लाला भगवानदीन की केशव और बिहारी की टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके शिष्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी कई अच्छी टीकाएँ लिखी हैं। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारीसतमई पर एक भाष्य लिखा जो पूरा न हो सका। रामचन्द्र शुक्ल के सम्पादनों में सबसे महत्त्वपूर्ण जायसी-ग्रन्थावली का सम्पादन है। कृष्णबिहारी मिश्र ने मतिराम ग्रन्थावली आदि कई ग्रन्थों का सम्पादन किया। रामनरेण त्रिपाठी ने युक्तप्रान्त और बिहार के ग्रामगीतों का बड़ा सुन्दर सम्पादन किया है। कविता-कौमुदी नाम से आप ने हिंदी कवियों की कविता का जो संग्रह निकाला वह भी बहुत ही लोकप्रिय हुआ। ठाकुर रामसिंह और सूर्यकरण पारीक राजस्थानी के उच्चकोटि के सम्पादक हैं। उन के द्वारा सम्पादित कृष्ण-कविमणी री बेलि के सम्पादन के विषय में डाक्टर ग्रियर्सन ने यहाँ तक लिखा है कि किसी भारतीय भाषा के ग्रन्थ का ऐसा उत्तम सम्पादन मेरे देखने में बिरला ही आया है। 'टोलामारु रा दूहा' नामक आप के एक अन्य काव्य के सम्पादन की भारतीय और यूरोपीय सभी विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की है। आप ने राजस्थानी लोकगीतों के एक वृहत् संग्रह का भी सम्पादन इस

निबन्ध-लेखक के सहयोग में किया है। पुरोहित हरिनारायण ने सुन्दर ग्रन्थावली का संपादन बड़ी विद्वत्ता के साथ किया है।

### पत्रकार

इस युग के पत्रकारों में गणेशगढ़र विद्यार्थी हरिभाऊ उपाध्याय, बनारसीदास चतुर्वेदी, प्रजमोहन वर्मा, रूपनारायण पार्लेय, प्रेमचन्द, श्रीनाथसिंह, श्रीराम शर्मा आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। पत्रिकाओं में दिगालभारत, हंस, रूपाम और सरस्वती का स्थान बहुत ऊँचा है।

---



# हिन्दी-निबन्ध-नवनीत



### १-प्राचीन भारत की एक झलक

[ लेखक—श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ]

**॥ भा ॥**  
 रत 'क्या तुम वही पुराने भारत ता ? क्या तुम वही  
 हो जहाँ रघु, दिलीप और राम का राज्य था ?  
 समय ने तुम्हारे स्मृति भी प्रायः नष्टप्राय कर दी ।  
 समय की गतिना सर्वथा अज्ञेय और अतन्त्र  
 है । क्या ने तुम्हें कुछ का कुछ कर दिया । अब तो  
 तुम पचाने तक नहीं जाते ।

भागत 'कदा यथा तुमो अपनी पुर्यन्त्यति नीताती है' तुमो भनी पनी ये दिन भा याद आत है जव न रेल की न आर न हासराट आ, न कार्ट आबू रोडन्तु वा कपतर न जर्नी नाट ये न प्रामागता नाट पर नव 'आ' पर आ कूट जकर आ जा तुम आ नृगत वा बाह नगी ननर आर सुन्दरान आ है उ नरकारन भा तुमगा नन पूव वा । वा नरय कन्दन वा नरय तम ना नादव हा गा है पर नगी देव पदक

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥  
 ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २ ॥





विद्वान् महात्मा राजा रघु के राज में तपश्चर्या और अध्यापन का काम करते हैं। आश्रम उनका जंगल में है। खेत-भात भी उनके वहीं हैं। अनेक ब्रह्मचारी आपके आश्रम में रहते और अध्ययन करते हैं। वरतन्तु ऋषि की विद्वता का यह हाल है कि वे चौदहों विद्याओं के निधान हैं। तप उनका इतना बढ़ा-चढ़ा है कि उनके घर में इन्द्र का आसन डिग रहा है। कहीं इतना धार तप करके चे मेरा इन्द्रत्व तो नहीं छोन लेना चाहते ! इन घर में सुरेन्द्र ~~सुरेन्द्र~~ को अस्तराओं की गरल लेनी पड़ी। पर वरतन्तुजी के सामने उनकी एक भी न चली। वे अपना-न्ता मुंह लेकर लोट गईं। इन्द्र का वह भय संबंधा निर्मूल था। इन्द्रासन पाने की इच्छा अल्प-मुखात्माओं ही को हुआ करता है। वरतन्तुजी ऐसे नहीं।

वरतन्तु के आश्रम में कौत्स नाम का एक विद्यार्थी है। जब उनका अध्ययन समाप्त हो गया और वह पूर्ण विद्वान् हाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने योग्य हुआ तब वरतन्तु ने उसे पर जाने की आज्ञा दी। कौत्स ने भक्तिभाव के उत्प्रेष में आकर प्रार्थना की—

‘नमोऽर्च्य’ तुम में कुछ गुरु-वर्णिता लीजिये। आपकी कृपा में मैं मूर्ख से परिवर्तित हो गया। अतएव मेरी हादिक स्मृति है कि मैं पद्म-सुन्दर्या धात्री-स्ती पूजा आपकी रहने।

वरतन्तु—‘वत्स’ तुमने मेरे आश्रम में इतने दिन तक रहकर मेरी जा मेरा-शुद्धा का है उम्मा को मैं समझे दही गुरु-वर्णिता समझता हूँ। पता क्या बन है ?

‘वत्स’—‘नमोऽर्च्य’ कुछ आहवा तो कराय ही दीजिये। कृपा दीजिये। मेरा जी नहीं मानता।

वरतन्तु—‘वत्स’ वर्णिता की अपेक्षा मिथ्य की भक्ति तुमने



अब शिष्य को देखिये। वह भक्ति-दान से सन्तुष्ट नहीं। वह यथा-शक्ति कुछ और भी देना चाहता है। बिना दक्षिणा के आचार्य के आश्रम में घर जाने के लिए उसका पैर ही नहीं उठता। और जब उसने चौदह करोड़ माँगा जाता है तब वह अपनी अकिञ्चनता का जरा भी खयाल न करके प्रसन्नतापूर्वक कहता है—बहुत अच्छा, आचार्य! चौदह करोड़ ही दूँगा! ऐसी अवस्था में कौन अधिक प्रशंसनीय है—गुरु या शिष्य? हमारा उत्तर देना कठिन है। गुरु भक्ति-भाव ही से खुश है; पैले के पान चौदह कौड़ियों भी नहीं, पर गुरु की आज्ञा के अनुसार चौदह करोड़ देने की वह प्रतिज्ञा करता है! इस दृश्य का मुयाबला वर्तमान समय के विद्यालय-सम्वन्धी दृश्य से कीजिये। आकाश-पाताल का अन्तर है। है या नहीं? इसी में कहते हैं कि—भारत! तुम कुछ से कुछ हाँ गये हो।

अच्छा इस दृश्य को आप देख चुके। अब इसके बाद का दृश्य आप देखिये। उसने आपको पूर्वोक्त वरनन्तु के आश्रम की झलक के सिवा और भी कुछ देखने का मिलेगा साथ ही आपको या भी देखने का मिलेगा। एक भारत के प्राचीन प्रव्रजती राजा ऐसे आश्रमों का कहो तब गदगद रह्यो थे। इस दृश्य के दिखाने का पुण्य महाबाहू बालिदान का है। अपने राज्य में वे जा कुछ लम्बे गये हैं। जमी की ददोक्त है। यह दृश्य देखने का सोनाग्र्य प्राप्त हुआ है।

राजा पराहट झलता, मन-दैव आश्रमा का काम नहीं राजा के लिए भाइयों दया दान देना बगुन काम है। दास्यकर काम ने राजा रूप में शरणा करने का निश्चय किया। राजा रूप का ज निश्चित इस नमस्कार का उनका उल्लेख उपरि है। ज पदा है। परन्तु हानि का उनका कुछ भी नहीं



स समय सुवर्ण-सम्पत्ति से धनवान् न था. तथापि मानरूपी न के भी जो धन समझते हैं उनमें वह सबसे बड़-बड़कर । महा-मानवनी होने पर भी रघु ने उस तपोवती ब्राह्मण की विधिपूर्वक पूजा की । विद्या और तप के धन का उन्होंने और नव धनो ने बढ़कर समझा । चक्रवर्ती राजा होने पर भी रघु को अभ्यागत के आदरातिथ्य की क्रिया अच्छी तरह मालूम थी । अपने इस क्रिया-ज्ञान का यथेष्ट उपयोग करके रघु ने कौत्स को प्रसन्न किया । जब वह स्वस्थ होकर आसन पर बैठ गया तब रघु ने नम्रतापूर्वक, भृकुटी या हाथ के इशारे से नहीं किन्तु चारों द्वारा, कुशल-समाचार पूछना आरम्भ किया । इतना ही नहीं, राजा ने हाथ भी जोड़ने की चरुत समझी । विद्वान् और तपस्वी की महिमा तो देखिये ।

अथर्व २. मन्त्रहतामृषीरा.

कुणाद्रुद्धे, कुण्डी गुरुन् ते ।

पतन्, वरा ज्ञानमोपमान

एकेन धेनव्यमिदोपायमे ॥

हे कुणाद्रुद्धे ' गहिये आपके गुरु ना मजे में हैं ? वे एक अन्ना गंगा बहान हैं — वे नवदुर्गो महान्ना हैं । जिन अपियों ने वेदमन्त्र या रचना का है उनमें उनका स्थान सबसे ऊँचा है । मन्त्ररत्नाश्रय के समान मन्त्र है । जिन तरह सूर्य ने प्रकाश प्राप्त होने पर सुदृढ़ यह मार्ग जगत् मान से जाग पड़ता है । ठीक उस तरह आप अपने पृथ्वीय गुरु से समस्त ज्ञान-सिद्धि प्राप्त करके प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिये आगे बढ़ें । ज्ञान-वन्दना का प्रामि बड़ा है । सुन्दरायक माना है । उनके महिमा प्रवर्णनाय है । एक ना आपकी दुर्लभ मन्त्राय ही से दुःख को मोच के मान्य तोत्र ; फिर नहीं

























समय अच्छा भी आ सकता है। जो वान आज आठ-आठ नलानी है, वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इसने भी घोर अँधेरी, कृष्ण अष्टमी की अर्धरात्रि। चारों ओर अन्धकार, वर्षा होती थी, बिजली कौंधती थी, घन गरजते थे। यमुना उताल नरझर बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़-पुरुष, एक नवजात शिशु गोद में लिये मथुरा के कारागार से निकल रहा था। शिशु माता शिशु के उत्पन्न होने के हर्ष को भूलकर, दुःख में विह्वल होकर चुपके-चुपके आँसू गिराती थी, पुकारकर रो भी नहीं सकती थी। बालक उसने उस पुरुष को अर्पण किया और कंधे पर हाथ रख कर बैठ गई। सुब आने के समय में उसने कारागार में ही आयु बिताई है। उसके कितने ही बालक वहीं उत्पन्न हुए और वहीं उसकी आँखों के नामने मारे गये। वह अन्तिम बालक है। कड़ा कारागार, विकट पहगा। पर इस बालक को वह किसी प्रकार बचाना चाहती है। इसी में उस बालक को उसके पिता की गोद में दिया है कि वह उसे किसी निगपद स्थान में पहुँचावे।

वह आँसू काँडे नहीं थे, यदुवर्गी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु था कृष्ण। इसी को उस कठिन दशा में, उन्मत्त भयानक काली रात में, वह गोकुल पहुँचाने जाते थे। कठिन समय था। पर दृढ़ता सब विपदाओं का जोत लेती। नवकठिनाइयों का मुगम कर देती है। वसुदेव सब शत्रुओं का महक यमुना पार कर के, भागत हुए उस बालक को गोकुल पहुँचाये। उसी रात को कारागार में लाटे आये। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, व्रज का प्याग हुआ। माँ-बाप का आँसू का नारा हुआ। यदुकुल-मुकुट हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठा

हुआ। जिधर वह हुआ, उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ, उन्हीं पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्व-प्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्मा का दृष्टदेव, स्वामी और सर्वस्व। वह कारागार भारत-सन्तान के लिए तीर्थ हुआ, वहाँ की धूल मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हुई—

पर जमीनें कि निशाने कफे पाये तो युवद ।

माला निजदण साहिब नजरा इबाहद बूद ॥

(जिन भूमि पर तेरा पद-चिह्न है दृष्टिवाले सैकड़ों वर्ष तक उन पर अपना मस्तक टेकेंगे ।)

### ३—स्मृति

(लेखक—श्री श्रीराम शर्मा)

**सा**यंकाल को जब मैं अकेला जंगल से लौटता हूँ तो डूबते हुए सूर्य की किरणों पूर्व की ओर संकेत करती हुई मानो कहती हैं—शैशवकाल में हमारी दृष्टि अपने वर्तमान स्थान की ओर थी, डूबर आने को हम उतावली हो रही थीं, पर मध्याह्न के नद के उपरान्त अनुभव हुआ—और अब तो हम विलख रही हैं—कि बाल्य-काल के माधुर्य की पुन प्राप्ति असम्भव है ऐरायकलधारी। शीघ्र ही आयु टलने पर तू भी हमारी भाँति बाल्य-काल के लिए विह्वल होकर आँसू बहायगा। अच्छा हाँ, तू अभी ने चेते।

मैंने इन चेतावनी का बहुत-कुछ नाथक पाया है। उनमें वेदान्त का पाठ पढ़ा है। प्रातः काल के मनन मनुष्य की छाया—देवी मिगनल, पश्चिम—अन्न—की ओर, होती है। मानो वह

कहती है कि 'अवसान पर दृष्टि डाल, पर बाल्य-काल में विरल ही उधर देखते हैं। कोई देखे भी कैसे और क्यों देगे। जीवन-यात्रा के प्रारम्भ में चारों ओर, हृदय की अन्तरतम लहर और मन की उच्चतम उड़ान तक, सब जगह ही दिखाई पड़ते हैं। वरसात में उगे पौंदे को आनेवाले शीत और ग्रीष्म का कुछ पता नहीं होता। उद्गम के समीप के मरिता-जल को क्या मालूम कि आगे चलकर संसार की गिलाजत उसमें आकर मिलेगी, और स्वच्छता तथा गंदगी में कितना संवर्ष होगा। पिल्लों को यह समझ थोड़े ही होती है कि बाल्यावस्था के समाप्त होते ही उनकी स्नेहमयी माँ रोटी के एक टुकड़े के लिए उन्हें काटने दौड़ेगी; न मृगशावक को इस बात का ज्ञान होता है कि उसके तनिक पीछे रह जाने पर भानेवाली उसकी माँ, कुछ बड़े होने पर, उसको पासवाली घास तक न चरने देगी। और न इस अशर फुल-मखलूकात को बाल्य काल में इस बात का ज्ञान है कि आगे चलकर उसका जीवन इतना कष्टपूर्ण और दुःखमय होगा। पर धीरे-धीरे, ज्यो-ज्यो जीवन-यात्रा बढ़ती जाती है, बाल्य-काल का आशारूपी ओसिस मरुभूमि में परिवर्तित होता जाता है। उसका आभास तो युवावस्था का उत्तुंग चोटी से होने लगता है। पर्वत-शिखर से जैसे घाटी की दोनों ओरें दिखाई पड़ती हैं—जैसे तराजू को मूँठ से दोनों पलकों के हल्के-भारी होने को बताया जा सकता है—उसी प्रकार युवावस्था में अतीत का सिंहावलोकन और भविष्य की प्रगति का अनुमान किया जा सकता है। कोई न करे। मैं तो कर रहा हूँ। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार होलिका-पूजन से होलिका-दहन और मायकाल से पूर्व बनी दीप-वर्ता से दीप-

शिखा का अनुमान किया जा सकता है। मेरी अब तक की जीवन-यात्रा में एक संकीर्ण तथा छोटी, पर अति मनोहर, घाटी पड़ी है। इस घाटी का एक सिखर एक उच्च चोटी के समान इतनी दूर चले आने पर भी स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है।

मार्च १९०८ की बात है। दिसम्बर का अखीर या जनवरी का प्रारम्भ होगा। चिल्ला जाड़ा पड़ रहा था। दो-चार दिन पूर्व कुछ बूँदाबोदी हो गई थी, इसलिए शीत की भयंकरता और भी बढ़ गई थी। सायंकाल के नाड़े तीन या चार बजे होंगे। कई नाथियों के साथ मैं भरवेरी के घेर तोड़-तोड़कर खा रहा था कि गाँव के पास से एक आदमी ने जोर से पुकारा कि तुम्हारे भाई बुला रहे हैं, शीघ्र ही घर लौट आओ। मैं घर को चलने लगा। साथ में छोटा भाई भी था। भाई साहब की मार का डर था, इसलिए सहमा हुआ चला जाता था। समझ में नहीं आता था कि कौन-सा कुसूर बन पड़ा। पढ़ने में कभी पिछता न था, पर पीटनेवाले पीटने के लिए सैकड़ों वहाने निकाल लेते हैं। दोषी ठहराने के लिए भेड़िये ने धार के नोचे की ओर खड़े हुए मेमने पर पाना गदला करने का अभियाग लगाया था। डरते-डरत घर • घुसा। आशंका थी कि घेर खाने के अपराध में हाँ ना पड़ा न हाँ पर आगन में भाई साहब को पत्र लिखत पाया। प्रद पिटने के, भ्रम दूर हुआ। हमें देखकर भाई साहब न कहा— इन पत्रों को ले जाकर मक्खनपुर डाकखाने में डालने आओ, तब मैं जाना जिसमें शान का डाक में ही। चिट्ठियाँ नकल जाय च उड़ा जतरो है।

जाड़े के दिन तो थे ही, तब पर हवा का प्रकाश में कैपेपों लग रही थी। हवा मज्जा तक को ठिठुरा रहा था

इसलिए हमने कानों को धोती से बँधा। लू और शीत से बचने के लिए कान बँधे जाते हैं। दुर्ग की रक्षा के लिए चहारदीवारी की रक्षा की जाती है, ताकि उसमें शत्रु का प्रवेश न हो सके। माँ ने भुँजाने के लिये थोड़े चने एक धोती में बँध दिये। हम दोनों भाई अपना-अपना डंडा लेकर घर से निकल पड़े। उस समय उस बबूल के डंडे से जितना मोह था, उतना इस उमर में रायफल से नहीं। प्रत्येक आर्यसमाजी का उस अस्त्र में सुसज्जित देखा था। डंडे को मैं उनके पेशे का चिह्न समझता था। उस कच्ची उमर में अनेक उपदेशक देखे थे। उनके उस कल्पित चिह्न का प्रभाव क्यों न पड़ता। फिर मेरा डंडा तो अनेक साँपों के लिए नारायण-वाहन हो चुका था। मक्खनपुर स्कूल और गाँव के बीच पड़नेवाले आम के पेड़ों से प्रतिवर्ष उससे आम भूरे जाते थे। इस कारण वह मूक डंडा सजीव-सा प्रतीत होता था। प्रसन्नवदन हम दोनों मक्खनपुर की ओर तेजी से बढ़ने लगे। चिट्ठियों को मैंने टोपी में रख लिया, क्योंकि कुर्तों में जेबें नहीं थीं।

हम दोनों उछलते-कूदते, एक ही माँस में, गाँव से चार फर्लाङ्ग दूर उम कुण के पास आ गये, जिसमें एक अति भयंकर काला साँप पड़ा हुआ था। कुआँ कच्चा था और चौबीस हाथ (३६ फुट) गहरा था। उम में पानी नहीं था। चुआकर झाँड दिया गया था, ताकि अवकाश के समय तार करके उसमें पानी किया जावे। उसमें न-जाने साँप कैसे गिर गया था? मन्मथ है मेंढ़क का पीछा करने में तेजी से उधर आ रहा होगा और कुँ के पास आकर, मेंढ़क के गिरने पर, वह अपनी गति को न रोक सका हो। अथवा प्रणय-केलि में नकुल-आनंद में सुध-बुध भूलकर, गिरकर, कूपवामी हुआ होगा। अस्तु, कारण कुछ भी

हो, हमारा उसके कुँ में होने का ज्ञान केवल दो महीने का था।  
 अच्छे नदखट होते ही हैं। उनका नदखट होना आवश्यक है,  
 क्योंकि नदखटपन एक शक्ति है, जो प्रत्येक बालक में होनी  
 चाहिए। मन्वन्तपुर पढ़ने जानेवाली हमारी टोली पूरी बानर-  
 टोली थी। एक दिन हम लोग स्कूल से लौट रहे थे, कि हमको  
 कुँ में उभरने की सूझी। सब से पहले उभरनेवाला मैं ही  
 था। कुँ में भाँककर एक ढेला फेंका कि उसकी आवाज कैसी  
 होती है। उसके सुनने के बाद अपनी बोली की प्रतिध्वनि सुनने  
 की इच्छा थी, पर कुँ में ज्यों ही ढेला गिरा, त्यों ही एक  
 फुसकार सुनाई पड़ी। कुँ के किनारे खड़े हुए हम सब बालक  
 पहले तो उस फुसकार से ऐसे चकित हो गये मानो किलोलें  
 मरता हुआ मृगमनूह अति समीप के कुत्ते की भोक से चकित  
 हो जाता है। उसके उपरान्त सभी ने उभर-उभर कर एक एक  
 ढेला फेंका, और कुँ से आनेवाली क्रोधपूर्ण फुसकार पर  
 हँसने लगाये। नाँप की फुसकार हमारे लिए आमांद-प्रमोद की  
 सामग्री थी, और ऐसी सामग्री थी जिसने हम बहुत दिनों तक  
 आनन्द ले सकते थे। उस अवस्था में यह खयाल थोड़े ही था  
 कि बेचारे नाँप के भी ज्ञान होती है और ढेला लगने से  
 उसे भी ज़ुट जाता है। हमें तो उसी फुसकार में मतलब था।  
 यदि वह विरोध स्वरूप फुसकार न मारता तो हमारा ज्ञान-  
 ब्रीडा का भी अन्त हो जाता। हमारा तमाशा। और उसे  
 जानके लाले पड़े थे। गाँव से मन्वन्तपुर जात और मन्वन्तपुर से  
 लौटते समय प्रायः प्रतिदिन ही कुँ में डेले डाले जाते थे। मैं  
 तो आगे भागकर आ जाता था और टापो का एक हाथ में  
 पकड़कर दूसरे हाथ में ढेला फेंकता था। यह राजाना की  
 आदत हो गई थी। नाँप में फुसकार मरवा लेना मैं उस समय

बड़ा काम नमस्कृत था। कुर्रों की कैद में इतने दिनों पड़े रहने में माँप भी कुछ अपने उस जीवन में अभ्यन्त हो गया था और बिना डेला लगे, वह बाद में फुसकार भी नहीं मारता था। डेला कुर्रों में गिरा कि फन फैलाकर खड़ा हो जाता और डेले की उपेक्षा किया करता। तनिक में डेला लगते ही वह फुसकार में अपना क्रोध प्रकट करता और कुर्रों में उधर-उधर घूमा करता। पर उस कारागार में सुक्ति मिलता कठिन था। उस कारागार में वह पड़ा रहता और अपनी उस मूर्खता पर जिसके कारण वह कुर्रों में गिरा था, पछताप करता—यदि माँपों में पछताप की शक्ति होती है तो। अपना को सहता अथवा अपनापन या उत्तर न देना या मन नमाना वह रह जाना अनुप्य-यानि ओ छोड़ और किसी यानि का वर्म नहीं है। भय होने पर कीड़े-मकोड़े और हिंस्र तक भाग जाते हैं और भागकर जान बचाना ही उनका वर्म है। बायल होने पर या पकड़े जाने पर आजादी के लिए भग्नक प्रयत्न करेंगे। दौड़ें, मोंग डक आर पैरों का उपयोग करेंगे। अकल के पुतले की भाँति पिट-कुट कर अथवा अपमानित होकर मरीनों बाद दुफ ४०६ में अदालत का आर भागने र उत्तरा जान नहीं। उनके अदालत है ही नहीं। प्राकृतिक शासन है, जिसमें विरोध नियन्त्रण नहीं है। पर वह माँप बाद ज्ञान पर प्रतिवादन्वय फुसकार अदालत मरत—आजादा जालि जगें न नडपता। माँप वह फुसकार का नडपत न था वरन् जेडा का उद्घास था जो प्रकट कर रहा था कि —

यो ना ए नवाद अडडा क ड नावा मने

दाम क न च नडपत क नड कुड और है ॥

पर उस समय—ग्यारह वर्ष की अवस्था में—उस वेदनापूर्ण

पुस्तकार में मैं उपदेश न पाता था। यह तो अक्की बात है। इसलिए जैसे ही हम दोनों उस कुएँ की ओर से निकले, तो कुएँ में डेला फेंककर पुष्कार सुनने की प्रवृत्ति जान्त हो गई। मैं कुएँ का ओर बढ़ा। छोटा भाई मेरे पीछे ऐसे हो लिया, जैसे बड़े मृगशावक के पीछे छोटा मृगशावक हो लेता है। कुएँ के किनारे से एक डेला उठाया और उमक्कर एक हाथ में टोपी उतारते हुए साँप पर डेला गिरा दिया, पर सन पर तो बिजली-सी गिर पड़ी। साँप ने पुँकार मारी या नहीं—डेला उसके लगा या नहीं, यह बात अब तक लग्ग नहीं। टोपी के हाथ से लेते ही तीनों चिट्ठियाँ चक्कर मारती हुई कुएँ में गिर रही थीं। अस्मन्मात् जैसे घान चरते हुए हिरन की आत्मा गोली में हन होने पर निकल जाती है और वह तड़पता रह जाता है, उसी भोति वे चिट्ठियाँ ब्या टोपी में निकल गईं, मेरी तो जान निकल गई। उनके गिरते ही मैंने उनके पकड़ने के लिए एक सपट्टा भी मारा ठीक वैसे जैसे घायल शेर शिकारी का पैड पर चढ़ते देख उस पर हस्ता करता है। पर वे तो पहुँच में बाहर हो चुकी थीं उनके पकड़ने की धमकाहट में मैं स्वयं मरने का कारण बन गया होता।

कुएँ की पार पर वंटे हम रा रा ख—ता नई टांटे मार कर ओर मैं कुपचाप आन उल्लख पर उल्लान आने में टकता उपर उल्लख हिरन पर दाहि टपक जाता है। निगना पदम का नय कर वह न गने का उफान आता था पकड़ने के टकने मारने नय का रोने का प्रयत्न करते थे पर कपोला पर आन टक ह न थे। मो की गोंद की दाद आती था जे चाहता था कि ना





फल तो किसी दूसरी शक्ति पर ही निर्भर है। शुभ घड़ी और शुभ मुहूर्त के अनेक कामों का दुखद फल होता है। शुभ घड़ी और शुभ मुहूर्त बुरा नहीं है, पर उनमें किया हुआ फल अपने बश की बात नहीं। मुझे अपने निर्णयकाल की घड़ी और मुहूर्त का पता नहीं, पर मेरा निर्णय मेरी अब की दृष्टि से अति भयंकर था। उस समय चिट्ठियों निकालने के लिए मैं विपथर से भिड़ने को तैयार हो गया। पौना फेंक दिया था। मौत का आलिंगन हो अथवा साँप से बचकर दूसरा जन्म—इसकी कोई चिन्ता नहीं। पर विश्वास यह था कि डण्डे से साँप को पहले मार दूँगा, तब फिर चिट्ठियाँ उठा लूँगा। वस इसी दृढ़ विश्वास के वृत्ते पर मैंने कुँए में घुसने की ठानी।

छोटा भाई रोता था, और उनके रोने का तात्पर्य था कि मेरी मौत मुझे नीचे बुला रही है, यद्यपि वह शब्दों में न कहता था। वास्तव में मौत नजीब और नग्न रूप में कुँए में बैठी थी, पर उस नग्न मौत से मुठभेड़ के लिए मुझे भी नग्न होना पड़ा। छोटा भाई भी नगा हुआ। एक घातों मेरी एक छोटे भाई की, एक चने वाली न जानों में बगी हुई धोतियों—पाँच धोतियों और कुछ रस्सा मिनाकर कुँए का गहराई के लिए काफी हुई। हम लोगों ने गान्यों एक दूसरी में बाँधी और खूब खींच-खींच कर अजनाली एक गोठ बड़ा है या नहीं। अपनी आर ने कोई गाले का काम न रक्खा। घातों जहाँ निरे पर डण्डा बाँधा और उसे कुँए में डाल दिया। दूसरा मर का हों (वह लकड़ी जिस पर चरमपुर टट्टना है)। एक चारा आर एक चकर देकर और एक गोठ लगा कर छोट भाई को डाल दिया। छोटा भाई केवल आठ वर्ष का था, इसी लिए घातों का डग में बड़ी करके बाँध दिया और तब उसे खूब मजबूती में पकड़ने के

लिफ्ट का। मैं काम में भागी के सहाये बनने लगा। दोपहर  
 फिर शने लगा। मैंने उसे आश्चर्यजनक बताया कि मैं काम के नीचे  
 पहुँचता ही साँप का मार लगा, और मेरा विश्वास जी गया तो  
 था। कारण यह था कि हमारे पन्ने मेरे पनेक साँप मार था।  
 दोपहर का नाउनी या कंठगार में साँप था। मैं यह था  
 उस समय ही जानता था कि साँप का पाने दाँ  
 ओर में होकर मारना चाहता, और उसका मारने के लिये  
 मर में पहुँचने लहता था। मैंने ही लग—साँप—हे। साँप  
 वह साँप के एक भी कण—पक्ष को हटाकर लग जाय,  
 ना वह बच-का-बची रह जाता। उसका हाँदों को पनास्ट  
 पैदा होता है कि वेन था साँप के लगने का उसका हड्डी नरसरी  
 हो जाती है, और वह करीब बिजली बाने लगता है, वह तब दूसरी  
 चोट का असर मिलता है। भागने जाने साँपों का मैं उसी  
 प्रकार कई बार मारा था। दाँपक बार काटने में भावना था।  
 इमलिए कुँ में घुसने समय मुझे साँप का जानक भी भय न था।  
 उसका मारना मैं बाँप हाथ का येन समझता था। ऐसा न  
 होता; तो शायद मैं कुँ में घुसने का साहस न करता। हृदय  
 का तूफान तो पहले ही शान्त हो गया था। जा अशुभारा बर्खा  
 र्थी, वह अपनी असमर्थता पर कि कुँ में चिट्ठियाँ कैसे निकाली  
 जायें, पर जब धोती के सावन की सूँठ हुई, तब तो मन्तोप और  
 प्रसन्नता की सीमा में पहुँच गया। उस समय भी मेरा रु  
 मझाला है, उस समय तो निरा बालक था। धोती के सहारे  
 उतरते समय जोर भुजाआ पर ही अधिक था, क्योंकि पैरों की  
 पकड़ में धोती आती न थी। जैसे-जैसे नीचे उतरता जाता था,  
 हृदय की धड़कन बढ़ती जाती थी कि कहाँ साँप न मरा तो  
 चिट्ठियाँ कैसे उठाऊँगा। कुँ के घरातल में जब चार-पाँच गज

रहा हूँगा, तब ध्यान से नीचे को देखा। अकल चकरा गई।  
 नाँप फल फैलाये धरातल से एक हाथ ऊपर उठा हुआ लहरा  
 रहा था। पूछ और पूछ से नमीप का भाग पृथ्वी पर था,  
 आधा अग्रभाग ऊपर उठा हुआ मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। नीचे  
 जो डंडा बँधा था, मेरे उतरने की गति ने इधर-उधर हिलता  
 था। उसी के कारण शायद मुझे उतरते देख साँप घातक चाट के  
 आसन पर बैठा था। स्पेरा जैसे दीन बजाकर काले साँप को  
 जिलाना है और साँप काधित हो फल फैलाकर खड़ा होता  
 तथा फुंकार मार कर चाट करना है, ठीक उसी प्रकार नाँप  
 तैयार था। उसका प्रतिद्वन्द्वी—मैं—उसने कुछ हाथ ऊपर बाने  
 पर डे लटक रहा था। धोती डेग से बँधी जाने के कारण कुछ के  
 दोचादोच लटक रही थी। आर मुझे कुछ के गगनन में पगमि  
 के दोचादोच ही उतरना था। इसमें मैंने धी साँप से उड़क  
 फीट—गज नहीं—की दूरा पर पैर रखना। फिर इससे दूर पर  
 नाँप पैर रखते हो चान करना। स्तरा में बरब कु ५

जाती थी। एकाग्रचित्त में—चित्तवृत्ति-निरोध में—जो विचार रत्न सूझते हैं, वे व्यग्रचित्त में नहीं। टूटे हीरे का वह मूल्य नहीं होता, जो सम्पूर्ण हीरे का। मुझे एक सूझ सूझी। दोनों हाथों से धोती पकड़े हुए मैंने अपने पैर कुँए की बगल से लगा दिये। दीवार से पैर लगाते ही कुछ मिट्टी नीचे गिरी और साँप ने फूँ करके उस पर मुँह मारा। मेरे पैर भी दीवार से हट गये, और मेरी टाँगें कमर से समकोण बनाती हुई लटकती रहीं, पर इससे साँप से दूरी और कुँए की परिधि पर उतरने का डग मालूम हो गया। तनिक भूलकर मैंने अपने पैर कुँए की बगल से सटाये, और कुछ धक्के के साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी के सम्मुख कुँए की दूसरी ओर डेढ़ गज पर—कुँए के धरातल पर खड़ा हो गया। आँखें चार हुई। शायद एक दूसरे ने पहचाना। साँप को चक्षुःश्रवा कहते हैं। मैं स्वयं चक्षुःश्रवा हो रहा था। अन्य इन्द्रियो ने मानो सहानुभूति से अपनी शक्ति आँखों को दे दी हो। शरीर में सहानुभूति की पीड़ा होती है। पैर में चाट लग जाने से गिल्टी उठ आती है। फिर इन्द्रियो का इन्द्रियविशेष का सहायक हाना कोई आश्चर्य नहीं। मैं तो यही महसूस करता हूँ। साँप के फन की ओर मेरी आँखें लगी हुई थी कि वह कब किस ओर को आक्रमण करता है। साँप ने माँहनी-सी डाल दी थी। शायद वह मेरे आक्रमण की प्रतीक्षा में था, पर जिस विचार और आशा को लेकर मैंने कुँ में घुसने की ठानी थी, वह तो आकाश-कुसुम था। मनुष्य का अनुमान आर भावी याजनाएँ कभी-कभी कितनी मिथ्या और उल्टी निकलती है। अनुमानित सफलता की आशा रज्जु से बँधा यह मानवी पुतला न मालूम क्या नहीं करता और कहाँ नहीं जाता। उस आशा-रज्जु के टूटते ही वह पुतला मास का एक लॉथड़ा ही रह जाता है। उसके बिना,

जीवन का कुछ आनन्द ही नहीं। मुझे सोंप का साक्षात् होते ही अपनी योजना और आशा की असम्भवता प्रतीत हो गई। डंडा चलाने के लिए स्थान ही न था। लाठी या डंडा चलाने के लिए कानों स्थान चाहिए, जिसमें वे घुमाये जा सकें। सोंप को डंडे में दबाया जा सकता था, पर ऐसा करना मानो तोप के मुहरे पर खड़ा होना था। यदि फन या उसके समीप का भाग न दबा, तो फिर वह पलटकर जरूर काटता, और फन के पास दवाने की कोई सम्भावना भी होती तो फिर उसके पास पड़ी हुई दो चिट्ठियों को कैसे उठाता। दो चिट्ठियाँ उनके पास उससे नदी हुई पड़ी थीं और एक मेरी ओर थी। मैं तो चिट्ठियाँ लेने ही उत्तरा था। हम दोनों अपने पैतरो पर डटे थे। उस आनन्द पर खड़े खड़े मुझे चार-पाँच मिनट हो गये। दोनों आग में मोरचे पड़े हुए थे, पर मेरा मोरचा कमजोर था। कभी माप मुझ पर नपट पड़ता तो मैं—यदि बहुत करना तो उसे पकड़कर, कुचलकर, मार देता, पर वह तो अचूक तर्ल विष मेरे शरीर में पहुँचा ही देता और अपने माथ-माथ मुझे भा ले जाता। अब तक सोंप ने बार न किया था इमालय मैं न भी उस डंड में दवाने का खयाल छोड़ दिया। एसा करना भी उचित न था। अब प्रश्न था कि चिट्ठियाँ कैसे उठाई जायें। वन एक मुरत थी। डंडे में सोंप की आग न चिट्ठियाँ का नरकाया जाय। यदि सोंप टूट पड़ा तो काट बाग न था। कुर्ता था और कांड कपड़ा भी न था जिस सोंप के मुँह का आग करके उसके फन का पकड़ लें। मारना या कुचलकर डेढ़गानी न करना—ये दो मार्ग थे। मा पड़ना मेरा नक्त क बाहर था। बाध्य होकर दूसरे मार्ग का अवलम्बन करना पड़ा।







विवाह और जीत का भोर भी बड़ा विकट होता है।  
 ऊपर चढ़ना कोई कठिन काम न था। केवल हाथों के सहारे  
 पैरों को बिना कहीं लगाये हुये, ३६ फुट ऊपर चढ़ना मुम्मे  
 अब नहीं हो सकता। १५-२० फुट बिना पैरों के सहारे, केवल  
 हाथों के बल, चढ़ने की हिम्मत रखता हूँ। कम ही—अधिक  
 नहीं, पर उस ग्यारह वर्ष की आयु में, मैं ३६ फुट चढ़ा  
 बाहे भर गई थी। छाती फूल गई थी। घोंकनी चल गई  
 थी। पर एक-एक डंच सरक-सरककर अपनी भुजाओं के  
 बल में ऊपर चढ़ आया। यदि हाथ छुट जाने तो क्या  
 होता, इसका अनुमान करना कठिन है। ऊपर आकर, बेहोश  
 होकर, थोड़ी देर तक पड़ा रहा। देह को मार-भूर कर घोंकनी  
 और कुर्त्ता पहना। फिर कियानपुर के लड़के को, जिमने ऊपर  
 चढ़ने की चेष्टा को देखा था, ताकीद करके कि वह कुँ  
 वाली बटना किमी से न कहें, हम लोग आगे बढ़े।

सन १९१४ में मैट्रिक्यूलेशन पास करने के उपरान्त वह  
 बटना मैंने माँ को मुनाई। मजल नन्नों में माँ ने मुझे अपना  
 गाढ़ में ऐसे बैठा लिया जैसे चिड़िया अपने बच्चों को ऐसे  
 नीचे छिपा लेती है।

कितने अच्छे थे वे दिन। उस समय रायफल न थी  
 डंडा था। और डंडे का शिकार—कम-से-कम उस माँ के  
 शिकार—रायफल के शिकार में कम रोचक और भयां  
 न था। बाल्यपन को वह बटना मैं कभी भूल नहीं सकता।  
 उस बटना के माँजी परमान्मा को छोड़कर हम तीन।  
 छोटे गगन भाई पंच जगन्नाथ शर्मा, पानी और स्वयं मैं  
 गायक पास के वृद्ध भी हैं, जा यों ही मरते हैं। माँ पर

कुएँ में दवा पड़ा है । कुएँ के स्थान का चिन्ह अब भी है।  
पर वे दिन नहीं हैं, न वह उमंग ! अब तो बस—

छुग मसूरत हुई, हँस लिये दो घड़ी,  
मुसीबत पड़ी, रोके चुप हो रहे ।

## ४—बीज की बात

[ लेखक—श्री राय कृष्णदास ]

**ज**ब किसान अपने खेत का झाड़ भंखाड़ बटोरकर  
खाद के गढ़े में फेंकने लगा, तो मैं भी उन्हीं में की  
एक पतली-सी टहनी में चिपटकर उसी गढ़े में जा पड़ा  
और अवसर की प्रतीक्षा करने लगा ।

दृषक दिन-भर का परिश्रम करके आनन्द से गाता हुआ  
ग लौटा । उसे केवल परिश्रम का ही आनन्द न था, उसने  
आज ढेर-की-ढेर खाद का सामान भी जुटा लिया था । निःसन्देह  
अगले साल फसल दृढी होगी । यही नहीं, उसने अपनी खेती  
के शत्रु—हमारे स्वयंरह वनस्पति-वश—का भी समूल नाश कर  
दाना था । परन्तु उसे मेरे अस्तित्व का पता न था ।

खलिहान नमाप्त हुआ । गरमी आई । ऋतु व्याज और  
देन-पोत के भार से लदे हुए कृषक अपने पेट काटकर बानियों के  
हाथ अनाज बेचने लगे और उनके माल में से वे अपने गन्त  
घरनेवाले भू-स्वामि पिनगों का तर्पण करे कि लग्न के दिन आ  
पहुँचे और उस घन का बहुत बड़ा अग वैवाहिक अग्नि में हवन  
हो गया । खेतिहर अपने आनंद में मग्न थे—चरै हरित तन  
धने-धनु जैसे ।

भूमिपाल का जो वरु अभी उन पर घहरानेवाला था, उस  
के वक्रान्त जो खूब जोरो से बमूल की जा रही थी, उनकी ओर

उनका ध्यान भी न था। और कहाँ तक ! जब यह नित्य का भाग्य ठहरा तो कब तक कोई हाय-हाय करे। अच्छा है जो बेचारे इतनी हँसी-खुशी तो मना लेते हैं।

हाँ तो, खेतिहर अपने आमोद में उलझे हुए थे और उन पर दैवी एवं मानुषी आपत्तियों के मेघ मँडरा रहे थे। मैं उसी गढ़ में से उभक-उभक यह लीला देखकर इस प्रतिहिंसा-वृत्ति से प्रसन्न हो रहा था कि तुम हमारे कृतान्त हो, तो तुम्हारे वे हैं।

धीरे-धीरे लू के सर्राटे बढ़ने लगे और सारा संसार एक जलता हुआ आगो हो उठा। ऐसे ही समय में मैं, एक जीरे से भी नन्हा और दुबला-पतला सीकिया-जवान मैं, जलती हुई हवा की बड़वा पर सवार होकर अपना कर्मक्षेत्र खोजने निकल पड़ा।

हवा पर सवार, अपनी धुन में मस्त, प्रतिहिंसा का बीजमन्त्र मैं, आतिशबाजी के वान की तरह सपाटे से चला जा रहा था कि मुझे एक ठिकाना दिखाई दिया और मैंने एक कलामण्डी ली तथा उसमें पहुँच कर छिप बैठा।

दो खेतों के बीच एक ऊँची-सी मेड़ थी। बात यह थी कि दोनों खेतवालों में आपस में मेल न था। इसीलिए उन्होंने, अपनी खुशी से नहीं, अपनी इच्छाओं को एक तीसरे के पास बन्धक रखकर, यह मेड़ बनवा दी थी। उसी विरोध के देहरे में मैं, उनके सर्वनाश के देवता की तरह, एक छोट्टे से छिद्र में स्थापित हो गया और अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। क्योंकि उनकी जड़ उखाड़ने के लिए मुझे अपनी जड़ जमानी थी। लू के झटके ने अपने गर्म ओठों से मुझे चूमा और न जाने कहाँ चला गया। उसकी गर्मी मेरी नस-नस में दौड़ गई। प्रतिहिंसा के लिए मेरा खून उबलने लगा।

एक दिन आकाश में घटा घिर आई। बूँदे पड़ने लगी।

पृथ्वी ने एक सौधी उत्साह ली और प्रकृति-बाजीगरनी के भावुन्नी के पिटारे, हम बीज, अपना इन्द्रजाल पमारने लगे। दो ही चार दिन में अंकुरित होकर खलवाट पृथ्वी को हमने गहरी हरी कुन्तल-राशि में आच्छादित करना शुरू किया।

मैं भी पनपने लगा। मेरी हृद्गता देखकर अन्तरिक्ष मुझे परोक्षान करने लगा। मनुष्य की जलती हुई ओखें ठंडी हुईं किन्तु किमानों को वह हरियाली अंगारे की तरह मालूम होने लगी, जिसे वे अपने उपयोग में न ला सकते हो। वे धीरे-धीरे हमारे नफाई करने लगे।

परन्तु मेरा भाग्य मेरे भाई-बन्धों से भिन्न था। मैं ऐसी जगह जमा था जहाँ को परवाह मेरे दानों और वे ही कृपकों को न थी। वह मेड़ थी—उन लोगों के परतन्त्र अधिकारों को देखी जहाँ ओग हाथ बढ़ाने की उनकी मजाल न थी। जहाँ मनुष्य की शक्ति काम नहीं करती, वहाँ वह उदासीनता के बल पर गिज्य पाने को आशा करता है। किन्तु उदासीनता में ही दुस्मियों का काम बनता है।

उन भोति पूर्ण स्वतन्त्रता में मैं, अपने उत्कार की तरह, दबने लगा। पृथ्वी हवा के भरोसे पर पेरे सारने लगा। प्राणवर्मान गाने लगा और उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा। पर मैं तब से अनेक होकर मनुष्य की सत्कार-रैपण पर पाने के थे।

के प्रचण्ड प्रहरी कीट-पतंगों के आक्रमण और अधिकार में उसकी रगड़ाली नहीं कर सकते ।

मो, उन किमानों के धैलों ने मुझे कवलित कर जाना चाहा । एक ने मुझ पर मुँह भी चलाया, किन्तु हमारी आत्म-रक्षा में कामना ने लागों ही बरस पड़ले में उसका प्रतिकार कर रक्खा था । हमने अपनी नमों में एक ऐसा उग्र गन्ध पैदा कर लिया था कि फोटे पशु हमें मुँह में ले ही न सकता था । हमारे वह परम्परागत प्रतिक्रिया उस चण मेरे काम आटे और उस धैल ने अपने नथने फुफकारते हुए मेरी ओर से मुँह फेर लिया ।

परन्तु इसी प्रसंग में, जाने कुछ होकर या अकस्मात्, उम्मे मुझे कुचल दिया और मेरा कोमल हग शिशु-शरीर छिन्न-भिन्न हो उठा । उस समय मुझे जो पीड़ा हुई, उसका अनुभव सायद दलित मानवता को हो तो हो । जो हो, उसमें मेरा एक लाभ हुआ, मेरी बहिर्मुख शक्ति अन्तर्मुख हो उठी और मेरी मार्ग पनपने और बढ़ने की शक्ति मेरी जड़ों में समाकर उन्हें पुष्ट और गहरी बनाने लगी । इस प्रकार जब कुछ दिनों में उस शक्ति ने मेरी नींव विलकुल अचल कर ली, तो उसका ध्यान मेरी ऊपरी बाढ़ की ओर गया और हेमन्त के बँवले प्रभात में मैं गहगहाकर पनप उठा ।

किमान अपने काम में लगे थे । उनकी फसल उनको सेवा में बाढ़ ले रही थी और मैं 'गम भगाने जा रहूँ, जगल में हरियायें के अनुसार अपने सुयोग के लिए सन्नद्ध हो रहा था ।

धीरे-धीरे शिशिर ने अपना राज्य फैलाया और वह अत्याचार किया कि किमानों के मारे किये-कगाये पर तुपारपात हो गया, किन्तु मैं अपनी मौज में कलिया रहा था ।

जब वसन्त आया, तो मैंने उसे अपने छोटे-छोटे कामनी

फूलों की भेंट की। और उसने मेरी भीनी-भीनी महक को अपने पवन द्वारा इधर-उधर वितरित करा दिया। अपनी इस कीर्ति से, मुझे इतनी प्रसन्नता न हुई, जितनी उस वसन्त के संगीत से, जिनके प्रत्येक स्वर मे मुझे अपनी तपश्चर्या की मिट्टि की मन्द ध्वनि सुनाई पड़ रही थी।

कृपक बेचारे दुखी थे। उनकी फसल मारी गई थी। यो ही दाने-दाने को मुहताज हो रहे थे, अब तो दाने भी नहीं, बकल से भी मुहताज होने की बारी आ गई थी। यद्यपि मुझे उनसे कोई महानुभूति न थी, पर मैं उनके दुख से दुखी जरूर था। और यदि वे मेरी भाषा समझ सकते तो मैं उन्हें अवश्य अपने हृदय की वेदना कह सुनाता।

अन्य पार्थिवों के साथ पारस्परिक व्यवहार पर मैं उन्हें एक उपदेश भी दिया चाहता था। पर दुर्भाग्य, कि हमारी भाषाएँ भिन्न थीं। जो हो, मैं इन विचारों में मग्न ही था कि वसन्त बीत चला और ग्रीष्म के आगमन के साथ मेरे फूलों की पंखड़ियाँ भी बीजों में परिणत हो उठीं।

चौथी बयार बह रही थी और मारे प्रसन्नता के मेरी छती फूली जा रही थी। मेरे असंख्य बीज अपने मुरझाते हुए पुष्प-कोष में रहने के लिए तैयार न थे। मैंने भी कहा—ठीक है 'एकोऽहं बहु स्याम्' की सिद्धि हो ही चुकी, अब तुम डेर न करो, नहीं तो कहाँ फिर खाद के गड्ढे में पहुँच गए ना न-जाने कहाँ के कहाँ हो जाओगे और वह तैयार सेना कम से-कम एक माल के लिए तितर-बितर हो जायगी। अतएव इसी जण तुम नव यहाँ फैल जाओ और इस कृपि-समृद्धि के नहन-नहन के लिए अभी से मोर्चाबन्दी कर लो।

ठीक इसी समय पवन के एक जोर ने आकर उन्हें बखेर

ही नहीं दिया, प्रत्युत उन्हीं-उन्हीं स्थानों पर ले जाकर स्थापित भी कर दिया, जहाँ से उनमें का एक भी नष्ट न हो सके।

सच है—

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ।

पडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवमहायुतः ॥

## ५—रमशान में हरिश्चन्द्र

[ लेखक—श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ]

ह०—( लम्बी मौंस लेकर ) हाय ! अब जन्मभर यही दुःख भोगना पड़ेगा ।

दास जाति चंडाल की, घर वनघोर ममान ।

वफन कसोटी को करम, सब ही एक समान ॥

न जाने विधाता का क्रोध इतने पर भी शान्त हुआ कि नहीं बड़ा ने सच कहा है कि दुःख में दुःख जाता है। दक्षिणा को ऋण चुका तो यह कर्म करना पड़ा। हम क्या-क्या सोचें ? अपनी अनाथ प्रजा को, या दीन नातेदारों को, या अशरण नौकरो को, या रोती हुई दासियों को, या सूनी अयोध्या को, या दासी बनी महारानी को, या उस अनजान बालक को, या अपने ही इस चाण्डालपने को। हा ! बटुक के बक्के से गिरकर रोदिताश्व ने क्रोधभरी और गानी ने जाते समय करुणाभरी दृष्टि से जो मेरी ओर देखा था, वह अब तक नहीं भूलती। ( घबड़ा कर ) हा देवी ! सूर्यकुल की बहू और चन्द्रकुल की बेटो होकर तुम बेची गई और दासी बनी। हा ! तुम अपने जिन मुकुमार हाथों से फूल की माला भी नहीं गूँथ सकती थी उनसे वरतने कैसे माँजागी ! ( मोह प्राप्त होने चाहता है, पर संभल पर ) अब क्या हुआ ? यह तो कोई न कहेगा कि हरिश्चन्द्र ने सत्य छोड़ा।

बेचि देह दारा सुन्न होइ दात ह मन्द ।  
राख्यो निज बच सत्य करि अभिमानी हरिचन्द्र ॥

( आकाश से पुष्पवृष्टि होती है )

अरे ! यह असमय में पुष्पवृष्टि कैसी ? कोई पुण्यात्मा का  
सुरा आया होगा । तो हम सावधान हो जायें । ( लट्ठ कन्धे पर  
रखकर फिटा हुआ ) खबरदार ! खबरदार ! बिना हम से कहे और  
बिना हमे आधा कफन दिये कोई संस्कार न करे ( यही कहता  
हुआ निर्भय मुद्रा से धर-धर देखता फिटा है ) । ( नेपथ्य में कोलाहल  
सुनकर ) हाय हाय ! कैसा भयङ्कर श्मशान है ! दूर से मंडल  
बोध-बोधकर चांच बाधे, डैना फैलाये, कंगालों की तरह मुर्दों  
पर गिद्ध कैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोचकर आपस में  
लडते और चिल्लाते हैं ! इधर अत्यन्त कर्णकटु अमंगल के  
नगाडे की भौंति एक के शब्द की लाग से दूसरे नियाँ कैसे  
रोते हैं । इधर चिराइन फैलाती चटचट करती चिताएँ कैसी  
जल रही हैं, जिनमें कहीं से मान के टुकड़े उड़ते हैं, कहीं  
लोहू या चरबी बहती है । आग का रंग मान के सन्वन्ध से  
नीला-पीला हो रहा है, ज्वाला धूम-धूमकर निकलती है । आग  
भी एक साथ बधक उठती है । कभी मन्द हो जाती है, धुआँ  
भी एक साथ बधक उठती है । ( आग देखकर आदर में ) अहा ! यह  
भक्त व्यापार भी बड़ाई के योग्य है । शय ! तुम धन्य हो कि  
पशुओं के इतने काम आत हो । अतएव कहा है—

मत्तो भलो बिदेश कां जहाँ न अपुना काय ।  
माटी खोय जनावरों महा महोच्छव हाय ॥  
देखो—

भिर पर देवों काग पोख दाउ खात निकरत ।  
बीचत जीभहि त्यार अतिहि आनन्द उर धारत ॥



जिन जिन वरें लोति लोति ई माँस दयाल ।

इतन अंगुलि वारि कति के लज विनय ॥

बहु चीज मोति ली जग गुन मोट मन्थो मन्थो लियो ।

मनु मन्थोत जितन न कोउ अल भिलासि कहे लियो ॥

अहा ! शरीर भी कैसा निम्मार यन्तु है ।

मोटे गुन मोटे उर, मोटे छ वर दाय ।

भयो आन कहु और ही, दायत जेहि नहि कोय ॥

हाड मांस लाया इतन बसा तुम मव कोय ।

द्विज भिज दुर्गन्ध-मय मरे मनुष्य के होय ॥

कादर जेहि साध के दान, पण्डित पावन लाज ।

अहा स्पर्श ममार को, दिव्य वामना-माज ॥

अहा ! देवों वही मिर जिस पर मन्त्र में अभिषेक होता था, कभी नवरत्न का मुकुट रक्खा जाता था, जिनमें इतना अभिमान था कि इन्द्र को भी तुच्छ गिनता था और जिसमें बड़े-बड़े राजाओं को जीतने के मन्त्रार्थ भर थे, आज पशाचा में गँद बना है और लाग उसे पैर में चूने में भाग्यन करत है । (उपरोक्त कर) अरे यह प्रमथान देवों है । अहा सान्यायता का भी ऐसा वीभत्स उपचार प्यारा है । यह देवता, डाम लगा न मृगे गले-मंडे फूलों की माला गंगा में से पकड़कर देवा का पहना दा है और रुफन की ध्वजा लगा दी है । मर बैल और बैसा न गले के घण्टे पीपल की डार में लटक रह है । जिनमें लालक की जगह नली की हड्डा लगी है । घण्टे के पाना में चारा और से देवी का अभिषेक होता है और पड़ के खन्ने में लोह के धागे लगे हैं । नीचे जो उतारों को बलि दी गई है उसके ग्यान को कुत्ते और सियार लड-लडकर सालाहल मचा रहे हैं । (उपर देख कर) अहा ! स्थिरता किसी को भी नहीं है । जो मृगे

उदय होते ही पद्मिनीवल्लभ और लौकिक वैदिक दोनों कर्म का प्रवर्तक था, जो दोपहर तक अपना प्रचण्ड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया, जो गगनाद्भन का दीपक और काल-सर्प का शिखामणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भोंति अपना सब तेज गेंवा का देखो मनुद्र से गिरा चाहता है।

अहा ! यह चारों ओर से पत्नी लोग कैसा शब्द करते हुए अपने-अपने घोंसलों की ओर चले आते हैं। वर्षा से नदी का भयंकर प्रवाह, नौक होने से श्मशान के पीपल पर कौओं का एक मंग अमङ्गल शब्द से काँव-काँव करना, और रात के आगमन से मन्नाटे का समय चित्त में कैसी उदासी और भय उत्पन्न करता है। अन्यकार बढ़ता ही जाता है। वर्षा के कारण इन श्मशानवानों मण्डूओं का टर-टर करना भी कैसा डरावना मानस होता है।

रत्ना चहुँ जिनि रत डरत सुनि कै नर नारी ।

फटफटाइ दोट पव उलूकहु रतत पुकारी ॥

अन्धकार-दस गिरत काक सर धील करत रव ।

गिद्ध गरव हटगिल्ल भजत लखि निकट भयद रव ॥

रोवत निवार गरजत नदी न्वान भेकि डरपावई ।

सैंग दादुर नीगुर रदन धुनि मिलि रव तुमुल मचावई ॥

इस समय ये चिताएँ भी कैसी भयङ्कर मालूम पड़ती हैं किसी का निर चिता के नीचे लटक रहा है कहीं आँच में हाथ पैर जलकर गिर पड़े हैं, कहीं जर्जर आधा जला है कहीं दिल जल कच्चा है, किसी को बैन ही पानी में डहा दिया है किसी को किनारे ही छोड़ दिया है, किसी का मेह जल जाने में दोन निकला हुआ भयङ्कर हो रहा है, आग कोई आग में ऐसा जल गया है कि कहीं पता भी नहीं है। बाह रंगीन 'तरी क्या गति होती

है !!! सबकुछ मर्ग पर इस शरीर को चटपट जला ही देना योग्य है क्योंकि ऐसे रूप और गुण जिस शरीर में थे, उसको जीने या मरने में नुचवाना और मरकर दुर्गन्धमय करना बहुत ही बुरा है । न कुछ शेष रहेगा न दुर्गन्धि होगी । हा ! चलो आगे चला । (मरदार इत्यादि रहता हुआ ऊपर उधर घूमता है ।)

( पिशाच और दाकिनीगण परस्पर आसोद करते और गाने बजाते हुए आते हैं )

( कौतुक से देख कर ) पिशाचा का क्रोडा-कुतूहल भी देखने के योग्य है । आह ! यह कैसे काले-काले भाड़ू के-से मिर के बाग गड़े किये लम्बे-लम्बे हाथ पैर विकराल दाँत लम्बी जीभ निकाले डधर-उधर दौड़ते और परस्पर किलकारी मारने हैं मानो भयानक रम की मेला मूर्तिमान हाकर यहाँ नवचन्द्र विहार कर रही हैं । हाय ! हाय ! इनका खेल और महज व्यवहार भी कैसा भयंकर है । कोई कटाकट हड्डी चबा रहा है, कोई खोपड़ियों में लहू भर-भर के पीता है, कोई मिर का गेद बनाकर खेलता है, कोई आँतड़ी निकालकर गले में डाले हैं और चन्दन की भाँति चरबी और लोहू शरीर में पात रहा है । एक दृन्गर में मांस छीन कर ले भागता है, एक जलता मांस मारें वृष्णा के मुँह में रख लेता है पर जब गरम मालूम पड़ता है तो थू-थू करके थूक देता है, और दूसरा उम्मी का फिर भट में खा जाता है । हा ! देखा वह चुडैल एक स्त्री की नाक नथ समेत तोच लाई है जिसे देखने को चारों ओर से सब भुनने एकत्र हा रहे हैं और मभा का उनका बड़ा कोतुक हो गया है । हमी में परस्पर लोहू का कुल्ला करते हैं और जलती लकड़ी और मुरदों के अंगों में लड़ते हैं और उनका ले-लेकर नाचते हैं । यदि तनिक भी काय में आते हैं तो श्मशान के कुत्तों का पकड़-पकड़कर खा जाते हैं । अहा !

भगवान् भूतनाथ ने बड़े कठिन स्थान पर योग-साधन किया है।  
(नबरादर इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरता है—ऊपर देखकर)  
आधी रात हो गई, वर्षा के कारण अंधेरी बहुत ही छा रही है,  
हाथ से हाथ नहीं सूझता ! चाण्डालकुल की भोंति श्मशान  
पर तम का भी आज राज हो रहा है। ( स्मरण करके ) हा ! इस  
दुःख की दशा में भी हम से प्रिया अलग पड़ी है। कैसी ही हीन  
अवस्था हो, पर अपना प्यारा जो पास रहे तो कुछ कष्ट नहीं  
नालूम पड़ता। सच है—

“दूट दूट घर टपकत खटियों दूटि।

पिय के राँह उल्लिखी सुख के लूटि ॥”

विधवा ने इस दुःख पर भी विमोह दिया। हा ! यह वर्षा  
और यह दुःख ! हरिश्चन्द्र का तो ऐसा कठिन क्लेश है कि सब  
नहेगा, पर जिसने सपने में भी दुःख नहीं देखा वह महारानी  
किस दशा में होगी। हा देवि 'धीरज धरो' 'धीरज धरो'  
तुमने ऐसे ही भाग्यहीन से स्नेह किया है जिसके नाथ सदा  
दुःख ही दुःख है। ( ऊपर देखकर ) अर 'पानो वरमन लगा।  
( घोड़ी भली भाँति छोड़ करके ) हा 'प्रिये इन वरमान को गाना  
को तुम रो-रो के बिनानी हागा ' हा वन्म रावनाएव भला  
हम लागो ने तो अपना शरीर बेचा तब दान हुए तुम बिना। वज्र  
ही ज्यो दास बन गये।

जेहि सहस्रन परिचारिका राखत हाथ-हि हाथ।

तो तुम लोटत धर मे, दास-दलकन नथ ॥

जाको छावसु जग-नृपति सुनत'ए धारन नील।

तेहि द्विज-द्वन्द्व, ज्ञा करत, छहह कठिन अति ईन ॥

बिनु तन बेचे बिनु दिये, बिनु जग-ज्ञान दियेक।

दैव-नर दंति भये, भोगत कष्ट अनेक ॥

( घबड़ाकर ) नारायण ! नारायण ! मेरे मुख से क्या निकल गया । देवता उसकी रक्षा करें । ( बाई आंख का फड़कना दिखाकर ) इसी समय मे यह महा अपसकुन क्यों हुआ ? ( दाहिनी भुजा का फड़कना दिखाकर ) अरे ! और साथ ही यह मंगल शकुन भी ! न जाने क्या होनहार है । वा अब क्या होनहार है । जो होना था सो हो चुका, अब इससे बढ़कर और कौन दशा होगी ? अब केवल मरणमात्र बाकी है । इच्छा तो यही है कि सत्य छूटने और दीन-हीन होने के पहले ही शरीर छूटे क्योंकि इस दुष्ट चित्त का क्या ठिकाना है, पर वश क्या है ?

## ६—बृद्ध

[ लेखक—श्री प्रतापनारायण मिश्र ]

इन महापुरुष का वर्णन करना सहज काम नहीं है । यद्यपि अब इनके किसी अंग में कोई सामर्थ्य नहीं रही अतः इनमें किसी प्रकार की ऊपरी सहायता मिलना असम्भव-सा है, पर हमें उचित है कि इनमें डरें, इनका सम्मान करें और इनके थोड़े-से बचे-बुचे जीवन को गनीमत जानें, क्योंकि इन्होंने अपने बाल्यकाल में विद्या के नाते चाहे काला अक्षर भी न सीखा हो, युवावस्था में चाहे एक पैसा भी न कमाया हो तथापि समाज के ऊँच-नीच का उन्हें हमारी अपेक्षा बहुत अधिक अनुभव है, इसी में शास्त्र की आज्ञा है कि वयोधिक गृह भी द्विजाति के लिए माननीय है । यदि हममें बुद्धि हो तो उनमें पुस्तकों का काम ले सकते हैं, वरच पुस्तक पढ़ने में आँखों को तथा मुख को कष्ट होता है, न समझ पढ़ने पर दूसरों के पास दीढ़ना पड़ता है पर उनमें केवल इतना रुझना बहुत है कि हो याया, फिर क्या हुआ ? हाँ याया, ऐसा

तो तो कैसा हो ? वस बाबा माह्व अपने जीवन भर का आंतरिक कोप खोलकर रख देंगे । इसके अतिरिक्त इनमें इतना इसलिए उचित है कि हम क्या है हमारे पूज्य पिता गदा नाथ भी इनके आगे के छोड़ें थे । यदि यह विगड़ें नोक्सि की कलाई नहीं खोल सकते ? किसके नाम पर गद्दा भी नहीं मुता सकते ? इन्हें संजोच किमका है ? वक्की के निवा इन्हें कोई कलंक ही क्या लगा सकता है ? जब यह आप हो चिता पर एक पोंव रखे बैठे हैं, कत्र में पोंव लटकाये हुए हैं तब इनका कोई कर क्या सकता है ? यदि इनकी गान्धुवातें हम न सहे तो करे क्या ? यह तनिक-सी बात में कष्टित और कुंठित हो जायेंगे और असमर्थता के कारण मच्छे जी से शाप देंगे जो वास्तव में बड़े-बड़े तीक्ष्ण शस्त्रों की भाँति अनिष्टकारक होगा । जब कि महात्मा कबीर के कथना-नुसार मरी खाल की हाथ में लोहा तक भस्म हो जाता है तब इनकी पानी-भरी खाल की हाथ कैना-कुद्ध अमंगल नहीं कर सके । इनमें यही न उचित है कि इनके मच्छे अशक्त अत-अणु का आशीर्वाद लाभ करने का उद्योग करें क्योंकि नमस्त वर्म-मथों में इनका आदर करना लिखा है नारं राजनियमों में उनके लिए पूर्ण दण्ड की विधि नहीं है । और मोच देखिये तो यह क्या-पात्र जीव है क्योंकि सब प्रकार पोंप्प में रहित हैं केवल जीभ नहीं मानती इसमें आँय-वाँय-गाँय किया करते हैं, या अपनी खटिया पर यूकते रहते हैं । इनके निवा किर्नी का बुद्ध विगाडते ही नहीं है । हाँ इस दशा में दुनिया के मन्त द्योड़ के भगवान का भजन नहीं करते बुधा चार दिन के लिए भूठी हाथ-हाथ में कुडते-कुडाने रहते हैं यह बुरा है । पर इसके लिए क्यों इनकी निन्दा की जाय ? आज-













आधुनिक नाटककार इब्सेन ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं को स्थान नहीं दिया। पर प्राचीन हिन्दू-नाटकों में अलौकिक घटनाएँ वर्णित हैं। उदाहरण के लिए कालिदास के अभिज्ञान-शाकुंतला को ही ले लीजिये। उसमें दुर्वासा के शाप ने दुष्यन्त का स्मृति-भ्रम, शाकुंतला का अन्तर्धान होना, दुष्यन्त का स्वर्गारोहण, ये सभी घटनाएँ अलौकिक हैं। शेक्सपियर के नाटकों में भी प्रेतात्मा का दर्शन कराया जाता है। हिन्दू-मात्र का यह विश्वास है कि मानव-जीवन में एक अदृष्ट शक्ति काम कर रही है। उसी शक्ति का महत्त्व बतलाने के लिए अलौकिक घटनाओं का समावेश किया जाता है। शेक्सपियर भी इस अदृष्ट शक्ति को मानता था। उसने भी कहा है कि मनुष्यों के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है, जो उन्हें सफलता के सिरे पर पहुँचाती है और फिर निम्नलता के खंदक में गिरा देती है। दूसरी बात यह है कि नाटकों में तत्कालीन समाज का चित्र आंकित रहता है। लोगों को जो प्रचलित विश्वास है, उसका समावेश नाटकों में करना अनुचित नहीं। शेक्सपियर के समय में लोग प्रेतों पर विश्वास करते थे। उसी प्रकार कालिदास के समय में मुनियों के शाप पर लोगों को विश्वास था। अतएव जो नाटकों में यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं उनकी दृष्टि में भी ऐसी घटनाओं का समावेश अन्याभाविक नहीं हो सकता।

नाटक की एक विशेषता और है। उसमें घटनाओं का गति-प्रतिगत मदैव होता रहता है। नाटकीय मुख्य चरित्र की गति मदैव बह रही होती है। जीवन-ज्योत एक ओर बहता है। वक्ता चाहे ही उनकी गति दूसरी ओर पलट जाती है। फिर धक्का लगाने पर वह तीसरी ओर बहने लगता है। नाटक में मानव-जीवन का एक रूप दिखलाना पड़ता है।



वे मृत्यु का आलिगन करते हैं और अस्तस्य पर विचरण करनेवाले सुख से रहते हैं। बात यह है कि धर्म का पथ श्रेयस्कर होता है, सुखकर नहीं। जो पार्थिव सुख और समृद्धि के इच्छुक हैं, उनके लिए धर्म का पथ अनुसरण करने योग्य नहीं, क्योंकि यह पथ सुख की ओर नहीं, कल्याण की ओर जाता है। नाटको में धर्म की पराजय बतलाने से उसरी हीनता नहीं सूचित हो सकती। धर्म धर्म ही रहता है। दुःख और दारिद्र्य की छाया में रहकर भी पुरुष गौरवान्वित होता है। पृथ्वी में पराजित होने पर भी वह अजेय रहता है। कुछ भी हो, भारतवर्ष के आधुनिक साहित्य में दुःखान्त नाटको की रचना होने लगी है। इसमें सन्देह नहीं कि कामेडी की अपेक्षा ट्रेजेडी का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। इसलिये नाट्य-शालाओं में इनका अभिनय अधिक सफलतापूर्वक हो सकता है। परन्तु आजकल दुःखान्त नाटको का प्रचार कम हो रहा है। कुछ समय पहले इंग्लैंड में न्युजिकल कामेडी का, जिसमें हेंसी-दिल्लीगी और नाच-नान की प्रधानता रहती है खूब दौरा रहा।

हिन्दू साहित्य-शास्त्रकारों ने यह नियम बना दिया है कि नाटक के नायक को नव गुणों में युक्त और निर्दोष अर्कित करना चाहिए। कुछ विद्वानों की राय है कि यह नियम बड़ा कठोर है। इसमें नाटककार का कार्य क्षेत्र बड़ा संकुचित हो जाता है। किन्तु हिन्दू साहित्य-शास्त्र में नाटक के नायक को दोष-शून्य अर्कित करने का जो विधान है उसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि नाटको का विषय महान हो। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत-नाटको में राजा अथवा राजपुत्र ही नाटक के नायक बनाये गये हैं। नाटको के चार भेद किये



हैं, वैसा ही स्वदेश-वत्सल और वीर भी। इन्सन, मेटरलिक अथवा रवोड्रनाथ की कुछ प्रधान नायिकाओं के चरित्र ऐसे अति हूए हैं कि जब हम अपने संस्कारों के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं तो उनके चरित्र में हीनता देखते हैं, परन्तु नृत्य की ओर लक्ष्य रखने से यही कहना पड़ता है कि हम उन पर अपनी कोई नन्मति नहीं दे सकते।

बर्नार्ड शा के आते ही इंग्लैंड की रंगभूमि पर मनोविज्ञान की दृष्टि पड़ने लगी है। समालोचक तो ऐसे नाटक चाहते हैं, जिनमें कठिन समस्याएँ हों, जिनका अन्तर्गत भाव देखने के लिए उन्हें छिन्न-भिन्न करना पड़े। शा ने उन्हें वैसे ही नाटक दिये और उन समालोचकों ने उनकी कीर्ति खूब फैलाई। बर्नार्ड का नाम पहले-पहल उनके श्रव्यकाव्यों से हुआ। पीछे उन्होंने श्रव्यकाव्यों की रचना में मन लगाया। युद्ध के पहले कुछ नाटककार यह समझने लगे थे कि अब नाटकों को अधिक आधुनिक रूप देने की आवश्यकता है। इसलिए सन् १६१४ में इंग्लैंड में एक ऐसी नाट्यशाला स्थापित हुई जिसमें मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय। उसका अभी शंशकाल है तो भी अन्य प्रचलित नाट्यशालाओं की अपेक्षा उसमें अधिक नजीकता आ गई है।

नाटक सभी काल और सभी देशों में लोक-प्रिय होते हैं। गालिदान का कथन है—नाट्य भिन्नन्वर्जनस्य बहुधायेक समाराधनम्। अब तो नाटक जीवन की आवश्यक सामग्री बन जाने के कारण और भी अधिक लोक-प्रिय हो गये हैं, लड़न आधुनिक सभ्यता का एक केन्द्र-स्थान है वहाँ मेंकडों नाट्यशालाएँ हैं। हजारों लोगों का जीवन-निर्वाह उन्हीं में होता है। सभी नाटक-धर सभी समय भर रहते हैं। कुछ ऐसी नाट्य-





किस्त्री-पात्रों में भारतीयता की रक्षा की जाती है। अपना वप बगलने के लिये भारतीय नट चेहरे पर पाउडर लगाकर निकलते हैं। हम नहीं समझ सकते कि अपने चेहरे में सफेदी लाने की यह विफल चेष्टा क्यों की जाती है ?

भारतीय रंगमंच के ये दोष बिलकुल स्पष्ट हैं। इनसे नाटकों का महत्त्व घट जाता और उनका उद्देश निष्फल हो जाता है। इन दोषों को दूर करने की चेष्टा की जानी चाहिए। नाटकों में जिस युग का वर्णन है, उसी के अनुरूप दृश्य दिखलाये जायें। भारतीय रंगभूमि में जब किन्नी सड़क अथवा महल का दृश्य दिखाया जाय, तब वेनिम के स्थान में जयपुर का दृश्य दिखाना अधिक उचित होगा। भारतवर्ष के नाटककार भी अपने नाटकों के दृश्यों की बिलकुल उपेक्षा करते हैं। केना भी दृश्य हो, काम निकल जाता है। हमारी समझ में इनसे तो बेहतर यही होगा कि परदों का कोई भ्रमेला ही न रहे। दर्शक कथा-भाग सुनकर अपने मन ही में दृश्यों की कल्पना कर लें। प्राचीनकाल में जब परदों का प्रचार नहीं था, तब ऐसा ही होता था।

भारतीय नाटकों में पात्रों के लिए उचित वेष-भूषा तैयार करने के लिये योग्यता की जरूरत नहीं है। जग भी बुद्धि में शान लेने में यह बात समझ में आ सकती है कि किम्वं लिए कौन-सा परिच्छेद उपयुक्त है। परन्तु आजकल तो सभी नाटक-मण्डलियों अपने नटों को घुटने तक ब्रीचेज पहनाकर भड़कीला कोट उड़ाकर निकालना चाहती हैं। नक्की दाटी और नूँछ में चेहरे को विकृत करना इसलिए आवश्यक समझा जाता है कि दर्शक नटों को पहचान न सकें।

हिंदी के कुछ नाटककार मगीत के ऐसे प्रेमी हैं कि वे



नकली। अब हमारा रंग इतना बिगड़ गया है कि हम पहचाने भी नहीं जा सकते। हमीं लोगो में ऐसे लोग हैं, जो यह जानते ही नहीं कि हम क्या और कौन थे और अब क्या हो गये। इसमें न किमी का जादू काम कर रहा है और न किसी का दोना, न देव हमारे पीछे पड़ा है, न घुरा भाग। जो कुछ हम भोग रहे हैं, वे हमारी करतूतो के फल हैं, और आज भी वे हमें रगानल ले जा रही हैं।

आज दिन हमारे सिर-धरो का ही सिर नहीं फिर गया है, आंग चलनेवाले भी आंग लगा रहे हैं, और भगवा पहननेवाले भी भोग खाये बैठे हैं। जिनको वीर होने का दावा है, वे भाइयो की मूर्छे उखाड़कर मूर्छ मरोड़ रहे हैं, दूसरो का घर मूसकर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लहू से हाथ रंगकर अपना हाथ गरम कर रहे हैं, नगो का पेट काटकर अपना पेट पाल रहे हैं। और वेवमो के घर जलाकर अपने घर में धी के दीये वाल रहे हैं। पुंजीवालो का पेट दिन-दिन मोटा हो रहा है पर किमी सटे-पेटवाले को देखते ही उनकी आख पर पड़ी बंध जाती है। मंडे-मुन्डे डंडे में चल माल भले ही चाव ले पर भूख में जिनकी आखें नाच रही हैं, उनको वे कानी कोड़ी भी देने के रदावार नहीं। जो हमारा मुँह देखकर जाते हैं, हम उन्हीं को निगल रहे हैं और जो हमारा भरोने पाव फेंलाकर मोते हैं हम उन्हीं का प्राणें दन्द करके चट रहे हैं। हमीं में डूबकर पानी पीनेवाले हैं प्राण में डंगला करनेवाले हैं खडे दाल निगलनेवाले हैं आंग लगाकर पानी को पीनेवाले हैं रंगे नियाह हैं भीगी दिल्ली हैं और काठ के लहू हैं।

आज हमारे घरों में फूट पाव तंडकर बठी हैं देर अकडा हुआ खड़ा है, अतवन की दन आर है और रगडे-भगडे गुलछरें



जाति की कसर निकालना. मगर हमारे जी की कसर निकाले भी हैं निकलती । हम जाति को ऊँचा उठाना चाहते हैं, पर हमारी गँख ऊँची होती ही नहीं । हम चाहते हैं जाति को जिलाना मगर हमें मर मिटना आता ही नहीं ।

हिन्दू-जाति अपनी भूलभुलैयाँ में बेतरह फंसी है, इससे नाराजी दुखी है, हमारा कलेजा चोट खा रहा है, दिल में न्गोले पड़ रहे हैं । जितना ही जल्द हिन्दुओं की आँखें खुलें, जितना ही अच्छा है । हमें उनका जी दुखाना, उन्हें कोसना, उन्हें नाना, उन्हें खिजाना, उनकी उमंगों को मटियामेट करना पसन्द नहीं । अपने हाथ में अपने पाँव में कुन्हाड़ी कौन मारेगा, अपनी आँखों ने अपनी आँखों को कौन कुचलेगा ? मगर अपनी बुराइयों, कमजोरियों, भूल-चूकों, ऐवों लापरवाहियों और नाना-नानियों पर आँख डालती पड़ेगी । बिना इनके निर्वाह नहीं ।

## ६—भारतीय चित्रकला

[ लेखक—श्री गौरीशंकर हीराचन्द श्रोत्र ]

सतवर्ष जैसे उष्णप्रधान देश में कागज वा कपड़े पर लिखे हुए चित्र अधिक काल तक नहीं रह सकते इसी से ई० स० १००० तक के ऐसे चित्र यहाँ नहीं मिलते । कितनी एक पुस्तकों में विषय-सूचक सुन्दर चित्र अवश्य मिलते हैं परन्तु वे सब हमारे निदिष्ट काल के नहीं हैं । उक्त काल के रंगीन चित्र केवल पहाड़ों की खोद-खोद पर बनाई हुई सुन्दर विशाल गुफाओं की दीवारों पर ही पाये जाते हैं । वे ही हमारे उक्त काल और उसने पूर्व का चित्रकला के



राजमहलों आदि स्थानों में राजा, वीर पुरुष, तपस्वी, प्रत्येक स्थिति के स्त्री पुरुष और स्वर्गीय दूत, गंधर्व, अप्सरा और किन्नर आदि पात्र रूप से हैं। ऐसे सैकड़ों चित्रों में से एक चित्र का परिचय इस अभिप्राय से दिया जाता है कि उनमें से कुछ चित्रों का काल निर्णय करने में नहायता मिल सके। तबरी नामक ऐतिहासिक अपनी पुस्तक में लिखता है कि ईरान के बादशाह खुसरो (दूसरे) के सन् जुलूस (राज्य-वर्ष) द्वासीस (ई० स० ६२६) में उसका एल्ची राजा पुलकेशी के पास पत्र और तुहफा लेकर गया और पुलकेशी का एल्ची पत्र और जहार लेकर उसके पास पहुंचा था। उस समय दरबार का चित्र एक गुफा की दीवार पर अंकित है जिसमें—

राजा गद्दी विछे हुए सिंहासन पर लंब-गोलाकृतिक तकिये के सहारे बैठा हुआ है, आसपास चँवर और पंखा करनेवाली स्त्रियाँ, तथा अन्य परिचारक स्त्री-पुरुष, कोई खंडे और कोई बेंठे हुए हैं। राजा के सम्मुख बाईं ओर तीन पुरुष और एक लड़का सुन्दर मोतियों के आभूषण पहिने हुए बेंठे हैं (जो राजा के कुँवर, भाई या अमात्य वर्ग में से होने चाहिये)। राजा अपना दाहिना हाथ उठाकर ईरानी एल्ची से कुछ कह रहा है। उस (राजा) के सिर पर मुकुट गले में बड़े-बड़े मोती व मालिक की इक्लड़ी कठी और उसके नीचे सुन्दर जडाऊ कठा है। दोनों हाथों में भुजवध आर कंडे हैं। यज्ञोपवीत के स्थान पर पचलड़ी मोतियों की माला है जिसमें प्रवर (ग्रथि) के स्थान पर पाँच बड़े मोती हैं और कमर में रत्नजडित मंगला है। पोशाक में आधी जाँघ तक कछनी और बाकी नारा गरीर नंगा है। दक्षिणी लोग जैसे समेटकर दुपट्टा गले में डालते हैं





इरानियों और हिन्दुस्तानियों की पोशाक में रात दिन का-सा अंतर है। जब हिन्दुस्तानियों का करीब-करीब सारा शरीर नुत्ता है तो उनका प्रायः सारा ढका हुआ है। उनके सिर पर उंची ईरानी टोपी, कमर तक अँगरखा, चुस्त पायजामा और कई लकड़ों के पैरों में मोजे भी हैं, और दाढ़ी-मुँछ सब के हैं। ईरानी पन्थों (जिससे राजा कुद्व कह रहा है) के गले में बड़े-बड़े मोतियों की एक लड़ी, पानदार कंठी, कानों में लटकते हुए मोतियों के आभूषण और कमर में मोतियों से जड़ी हुई झरपेटों हैं। दूसरे किसी ईरानी के शरीर पर जेवर नहीं हैं। गदगद में सब जगह फर्श पर पुष्प बिखरे हुए हैं। राजा के निहासन के आगे पीकदानी पड़ी हुई है और चौकियों पर ढक्कन वाले पानदान आदि पात्र रखे हुए हैं। इस चित्र ने अनुमान होता है कि यह ई० स० ६२६ के बाद बना होगा।

अजन्ता के चित्र चित्रकला में प्रवीण आचार्यों के हाथ से गिरे हुए हैं। उनमें अनेक प्रकार का अग-विन्यास, मुख-मुद्रा भाव-भंगी और अग-प्रत्यंगों की सुन्दरता नाना प्रकार के कलात्मक वस्त्राभरण चहरो के रंग-रूप आदि बहुत उत्तमता से बतलाये गये हैं। इसी तरह पशु पक्षी पत्र पुष्प आदि के चित्र बहुत सुन्दर हैं। कई चित्र ऐसे भावपूर्ण हैं कि उनमें चित्रित स्त्री-पुरुषों की मानसिक दशा का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग और मिश्रण में कमाल किया गया है। चित्रण इतना प्रशस्त और नियमित है कि प्रकृति और सौन्दर्य के पूर्ण रूप में नमस्कृतियों के निवा दमरा उन्हें अकिन नहीं कर सकता। इन सब बातों का देखकर चित्रकला के प्राकृतिक बड़े-बड़े विद्वान भी मुग्ध होकर मुक्त कंठ से इनकी उत्कृष्टता की प्रशंसा करते हैं। मिन्टर ग्रिफिथ ने मृत्यु-शय्या

पर पड़ी हुई है एक रानी के चित्र की प्रशंसा करने हुए लिखा है—कल्ला रम, और अपना भाव, ठीक-ठीक प्रदर्शित करने में चित्रकला के उन्निहाम में इससे बढ़कर कोई चित्र नहीं मिल सकता। फ्लोरेन्स के चित्रकार चाहे अधिक आलेखन कर सकें और बेनिमवाले अच्छा रंग भर सकें, परन्तु उनमें से एक भी इससे बढ़कर भाव प्रदर्शित नहीं कर सकता है। चित्र का भाव इस प्रकार है—

मुझे हुए सिर, अधनुली अस्त्रों और गिथिल अंग-प्रत्यंग के साथ वह रानी मृत्युशय्या पर बैठी हुई है। उसकी एक दासी हलके हाथ से उसे महारा दिये हुए खड़ी है, और एक दूसरी चिंतातुर दासी मानो नाड़ी देखती हो इस तरह उसका हाथ पकड़े हुए है। उसकी मुख-मुद्रा में वह अत्यन्त व्यग्र प्रतीत होता है, मानो वह यह सोच रही है कि मेरी इस स्वामिनी का प्राण-पखेरू कितना शीघ्र उड़नेवाला है। एक और दासी पंखा लिये हुए खड़ी है और दो पुरुष बाईं तरफ से उसकी ओर देख रहे हैं, जिनके चेहरों पर गहरी उदामीनता छा रही है। नीचे फर्श पर उसके संबन्धी बैठे हुए हैं, जो उसके जीवन की आशा छोड़कर शोकाकुल हो रहे हैं। एक अन्य स्त्री हाथ में अपना मुँह डककर बुरी तरह रो रही है।

इन चित्रों के असाधारण कलाकौशल में आकर्षित होकर कई चित्रकला-मर्मज्ञों ने इनकी नकले की और इन पर कई पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

अजंता की गुफाओं में अंकित जातक आदि को देखने से प्रतीत होता है कि उनके निर्माताओं ने अमरावती, माँची और भरहुत के स्तूपों की शिलाओं पर अंकित जातकों तथा गथा-शैली के तक्षण-कला (Sculpture) के नमूनों का मूढमता

में निरीक्षण किया हो. क्योंकि उनमें तथा इनमें बहुत कुछ मान्य पाया जाता है।

उसी तरह ग्वालियर राज्य के अमभेरा जिले में बाघ गोंव के पान की पर्वतीय गुफाओं में भी बहुत-से रंगीन चित्र हैं, जे ई० न० की छठी और सातवीं शताब्दी के अनुमान किये जा सकते हैं। वे भी अजंता के चित्रों के समान सुन्दर, भावपूर्ण और चित्रकला के उत्तम नमूने हैं। इन चित्रों की भी नकलें हो गई हैं और उन पर एक ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। लंदन के 'टाइम्स' पत्र ने उक्त चित्रों की समालोचना करते हुए लिखा है कि यूरोप के चित्र उत्तमता में इनकी समानता नहीं कर सकते। 'डेली टेलीग्राफ' पत्र का कथन है कि कला की दृष्टि में यह चित्र है कि इनकी प्रशंसा नहीं की जा स ;  
 न्तु उत्तम है। जीवन और चेष्टा के भाव  
 ये चित्र केवल अपूर्व और चित्ताकर्षक  
 जानें, किन्तु वे एक नव्य और विश्वव्यापी प्रभाव



में निरीक्षण किया हो, क्योंकि उनमें तथा इनमें बहुत कुछ नान्य पाया जाता है।

इसी तरह ग्वालियर राज्य के अमरेला जिले में बाव गोंव के पान की पर्वतीय गुफाओं में भी बहुत-से रंगीन चित्र हैं, जो ई० स० की छठी और सातवीं शताब्दी के अनुमान किये जा सकते हैं। वे भी अजंता के चित्रों के समान सुन्दर, भावपूर्ण और चित्रकला के उत्तम नमूने हैं। इन चित्रों की भी नकलें हो गई हैं और उन पर एक ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। लंदन के 'टाइम्स' पत्र ने उक्त चित्रों की समालोचना करते हुए लिखा है कि यूरोप के चित्र उत्तमता में इनकी समानता नहीं कर सकते। 'डेली टेलीग्राफ' पत्र का कथन है कि कला की दृष्टि से ये चित्र इतने उत्कृष्ट हैं कि इनकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। इनका रंग भी बहुत उत्तम है। जीवन और चेष्टा के भाव-प्रदर्शन की दृष्टि से ये चित्र केवल अपूर्व और चित्ताकर्षक नस्कृति को ही नहीं बताते किन्तु वे एक सत्य और विश्वव्यापी प्रभाव के दर्शक हैं।

कुछ समय पूर्व सिन्धु नवान्नल में जो कृष्णा नदी के किनारे पट्टकोटा में पश्चिमोत्तर में नौ मील पर है पहाड़ को काटकर बनाये हुए मन्दिर में भी ऐसा कुछ चित्रों का पता लगा है। इन चित्रों का नवान्नल पहले टी० ए० गोपाताथ गव ने देखा। ये चित्र पल्लव शासक महेंद्रवर्मा (प्रथम) के समय (सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ) में बनाये गये हो ऐसा अनुमान किया जाता है। इन मन्दिर की भीतरी छतों स्तम्भों और उनके निरो पर ये चित्र अंकित हैं। यहाँ का मुख्य चित्र शिवजी की प्रायः नारी छत का घर हुआ है। इस चित्र में स्तम्भों ने भरा हुआ एक सरावर बतलाया गया है। पुष्पा के मध्य में नक्षत्रियाँ, हस्त, मूला हाथी और हाथ में पल्लव लिये



हैं। उन्हें भारतीय चित्रकला का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। जैसे नंदों में भारतीय सभ्यता फैली हुई थी, वैसे मध्य एशिया में तुर्किस्तान या उन्ने परे तक भारतीय सभ्यता का विस्तार था और निम्न-निम्न भारतीय शास्त्रों तथा कलाओं आदि का वहाँ प्रचार हो गया था।

भारतीय चित्रकला यूरोपीय चित्रकला की तरह रूप-प्रधान नभेक भाव-प्रधान है। हमारे चित्रकार बाहरी अंग-प्रत्यंगों की सुसजा तथा सुन्दरता पर उतना विशेष ध्यान नहीं देते, जितना यूरोपवाले। वे उनके आंतरिक और मानसिक भावों को प्रकट करने में ही अपना प्रयत्न सफल समझते हैं। व्यक्त के भेद जो प्रत्यक्ष की छाया छिपी हुई है उसको प्रकाशित करना ही भारतीयों का मुख्यतम उद्देश्य रहा है। वस्तु के रूप में उन्हें उतनी परवाह नहीं जितनी मूलभाव को स्पष्ट करने में थी।

मिलर ई० बी० हैबेल का कथन है—यूरोपीय चित्र मानो एक गेरे हुए हाँ ऐसे प्रतीत होते हैं क्योंकि वे लोग केवल तर्क-मौल्य का चित्रण जानते थे। भारतीय चित्रकला प्रतीक में उँचे उँचे हुए दृश्यों को नीचे पृथ्वी पर लाने के लिए तर्क-मौल्य को प्रयुक्त करती है।

मान की आधुनिक चित्रशैली जड़ता की प्राचीन शैली के साथ मेली हुई है।





यूरोपियन भाषाओं में फ्रेंच भाषा सब से अधिक मधुर कही जाती है, इसमें भी वीर रस के काव्यों की कमी नहीं। जगद्विजयी वीर नेपोलियन की मातृभाषा यही मधुरभाषा थी। फ्रेंच-माधुरी का उपासक फ्रांस किसी भी कर्णकटु कठोर भाषा-भाषी देश से गौरवा में कम नहीं है।

कवि में कवित्वशक्ति चाहिए: वह किसी भी भाषा में मनानुरूप से सफलतापूर्वक शृङ्गार और वीर रस का वर्णन कर सकता है, भाषा उसके भावों को सङ्कुचित नहीं कर सकती। जो लॉर्ड वायरन सयोग शृङ्गार का नम्र चित्र खींच कर लाज के जहाज को शृङ्गार रस की खाड़ी में डुबो सकता है, वही वायरन उसी भाषा में उत्तेजना उत्पन्न करनेवाली वीर रस की कविता द्वारा यूनान को तुर्कों के पराधीनता-याग में मुक्ति भी दिला सकता है।

आर्य-भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा का साहित्य शृङ्गार रस में भरा पड़ा है। शृङ्गार रस के इतने काव्य शायद ही नमस्कार को किसी नयी-पुरानी भाषा में हों। मधुरिमा भी इसकी अनुलनीय है, पर रामायण और महाभारत के जंगल के वीर रस के काव्य किस कड़वी और कठोर भाषा में हैं? जिन भाषा में आदि कवि ने कर्ण रस की महानदी बहाई है वीर रस का उतुङ्ग-तज्जगाली शांखमूत्र भी उसी में हिलोरे ले रहा है। ज्ञानगङ्गा के उद्गम भगवान् कृष्णद्वैपायन का पञ्चम वेद (महाभारत) गाल रस का प्रशान्त महामागर भी है और वीर रस का प्रलय-परोधि भी।

भारत की आधुनिक भाषाओं में ब्रजभाषा कोमलता में कुछ कम नहीं है। इसके शृङ्गार रस के उपन्यासों की बात में भाषा-रस के रूप में खड़ीखोली को भी शराघोर कर सकता है फिर









बुलन्दशही के आधिकारिक और स्या गर जाता है। वैयना और प्राचीन भाषाओं का वर्तमान साहित्य अन्य गर शिष्यों में गर भाषा हिन्दी के साहित्य से कहीं गरनदा है। हिन्दी का गर प्राचीन साहित्य पर निर्भर है, तुलसी और मूर आदि प्राचीन कवि-विनायाओं की समानता करनेवाले कवि भारत की अन किमी भाषा में है। अपने आदर्शगीय प्राचीन साहित्य की अव हेलना द्वारा हिन्दी भाषा की उस विशेषता का विनाश न कीजिये। कोई भी प्राचीनता का पनपाती यह नहीं कहता कि नये ढंग के साहित्य का निर्माण न किया जाय। निषेदन उतना ही है कि उस विस्मृत साहित्य की रचा की जाय, उसे विलुप्त होने से बचा जाय। कविता खडीबोली में ही कीजिये, पर ब्रजभापुरी का रस न भुलाइये, उसमें भी बहुत कुछ लेने लायक है, सदियों तक ब्रज भाषा कविता की भाषा रही है, आज भी अनेक मत्कवि उसी कविता करते हैं। ब्रजभाषा मुग्दा भाषा नहीं है, जेसा कि कु मनचले महाशय कह बठते है, उसके बोलनेवाले अब भी लख की मख्या में हैं। ब्रजभाषा से वर्तमान खडीबोली का और उर्दू का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उस बात से मालाना आजाद और अनेक भाषाविज्ञानी विद्वाना न मुक्त-कण्ठ से स्वीकार किया है उर्दू के पुराने कवि मीर, सादा और इन्शा की कविता पढ़िये सब से ब्रजभाषा के ठेठ मुहावर मिलेंगे। उन मुसलमान महा कवियों को ब्रजभाषा के शब्दा से इतना ही प्रेम था जितना आज कल के कुछ हिन्दी कवियों को उनसे दूय है। ये अच्छे लक्षण नहीं है। सङ्कीर्णता या अनुदारता साहित्य की और भाषा की विघातक है।













उममें से जलने के योग्य वायव्य निकले. अमंग्य काम से निकली और कोलतार निकला। वायव्य या गैसों से तो रोशनी का और ईंधन का काम लिया गया। कोलतार तो बन्दू कुवेर की निधि मिट्ट हुआ। यह सब गडा हुआ सौर था जो धन के रूप में प्रकट हुआ। तब से आटे की चक्की आदि अनेक यन्त्र खान से निकले हुए तेलों से भी चलाये जा लगे। तेल भी सौर शक्ति का भंडार है।

विज्ञान ने इस बात को अनेक प्रयोगों से सिद्ध कर दिया कि गरमी, रोशनी, विजली, चुम्बकत्व, गति आदि सभी शक्तियाँ वा बल के रूपान्तर हैं। विशेष स्थिति में होना भी बल का सञ्चय सिद्ध करता है। ऊँचे पर का जलाशय ऊँचाई के कारण बल का भंडार है। ऊपर से पानी गिरता है तो उसके बल का काम लिया जा सकता है। इतना ही नहीं। गरमी को गति को विजली-चुम्बकत्व में बदल सकते हैं। विजली को रोशनी-गरमी वा गति में बदल सकते हैं, क्योंकि यह सब एक ही सत्ता है, जिसका नाम शक्ति है। गिरते हुए पानी की ताकत को बदलकर विजली कर ली और इस विजली को जम करके रख लिया। फिर जब काम लगा तो इसी विजली को गति, रोशनी, आँच, सब कुछ ले ली। निदान सूर्य की शक्ति को अनेक प्रकार से लेकर अनेक रूपों में बदलकर अनेक तर पर हम काम में लाते और ला सकते हैं और हमारी माँ शक्ति का मूल स्रोत सूर्य है।

### २—करण और उपकरण

मनुष्य के पास अपनी इन्द्रियों की शक्ति चराचर से धीरे-धीरे विकास करती आयी है, परन्तु उसके पास तो तब मौजूद है जब से उसकी सृष्टि हुई है। चराचर सृष्टि परिसिद्ध



वोलोमीटर और तापमापक यंत्र गरमी नापने के लिए हैं। ताप की मात्रा नापने के लिए कलारीमापक यन्त्र बना। पृथ्वी का सूक्ष्मातिसूक्ष्म कम्पन नापने को सैस्मोग्राफ बनाया। नाड़ी देखने के लिए यन्त्र बनाया जिससे रक्त का दबाव नापा जाता है। अपनी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के लिए जैसे यंत्र बनाये उसी तरह कर्म्मोन्द्रियों की सहायता के भी साधन बनाये। भार उठाने के लिए अद्भुत क्रेन बनाये जो विजली के बल से कारखाने के एक भाग से दूसरे भाग को हजारों मन का वजन सहज में उठा ले जाते हैं और निर्दिष्ट स्थान में रख आते हैं। जमशेदनगर में टाटा के लोहे के कारखाने में ये तमारी प्रत्यत्र देखने में आते हैं। अमेरिका के बने-बनाये लकड़ी के या कागज के मकान एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाकर स्थापित कर दिये जाते हैं। जहाजों में एक-एक वार में ढाई-ढाई सौ मन कोयलात्रेन से ढुलकर लड़ता है। घंटे भर में सवा सत्ताइस हजार मन कोयले की लड़ाई होती है। एक-एक वार में क्रेन के द्वारा ढोनेवाली टोकरी साठ-सत्तर मन माल, जैसे कोयला, बटोरकर धर लेती है। आदमी के हाथ लगाने की जरूरत नहीं है। बंडे-बंडे कारखानों में प्रायः सभी काम कलें करती हैं। इसी तरह नारा कारखाना कलों के जोर में चल रहा है। इसमें एक भी आदमी की जरूरत नहीं है।

निदान आदमी ने कलों के बनाने में वह कमाल पैदा किया कि किरणों अर्थात् इन्द्रियों की जरूरत बाकी न रही और उपकरणों, अर्थात् हथियारों में या कलों से, वह नारे बान लेने लगा। टामसन ने यह सिद्ध किया कि केवल सूर्य ही हमें शक्ति दे सकता हो यह बात नहीं है। शक्ति का तो महान्मुद् यह मंसार है और इसका एक-एक कण है। बात यह है कि



















नी विधि से इनका प्रस्फोट होता है तो पहाड़ का भारी भारी शिखर चूर्ण-चूर्ण हो जाता है। डैनामैट के बल से प्रस्फोटित वृक्ष को रोपने के लिए एक उपयुक्त गड्ढा बनाया जा सकता है। अथवा यदि गहरी जोताई करनी हो जो हल न ले सके तो नहीं है तो खेत में पोती बाँधकर डैनामैट बो देने की जरूरत है। फिर प्रस्फोट होने से खेत अपने आप गहरा हो जाता है। किसी नयी ऊबड़-खाबड़ ऊसर धरती को हरी खुदाई करके विलकुल उलट-पलट देने की जरूरत है तो हरे गाड़ने में ये प्रस्फोटक धरती का रूप गुण ही बदल देते हैं। इस तरह मनुष्य अग्नि से विनाश के बदले रक्षा का काम कर सकता है और अमेरिका आदि मध्य पाश्चात्य देशों में ले जाते हैं।

#### ५—धन का कूड़ा और कूड़े का धन

मनुष्य इन्हीं वस्तुओं को कूड़ा-करकट समझता है जिनका उपयोग नहीं जानता। जब तक पत्थर के कोयले का ठीक उपयोग में नहीं लाया था तब तक जलाकर उसके धुएँ को बरबाद करता था और जोक को फेंक देता था। आज पत्थर के कोयले का एक रक्ती भर भी व्यर्थ नहीं जाता। मनुष्य को कोयले की खान जिन दिन मिली समझना चाहिए कि उनको नमी भूमि में उनी दिन हीरे की खान मिली। सोडा र बनाने में खिलान्त वायव्य रूप में निकलकर हवा में उड़ जाता था और हमने आन-मान की धरती ऊसर हो जाती थी। जब नमक के जैव की उपयोगिता समझ में आई तो उनका कारखाना बन गया और हमने अपरिमित लाभ होने लगा। यह आन नमकी से जमीन उपर थी। इनसे धोने का काम लिया जाने लगा। सोना लगा-लगा कर मिट्टी खराब हो जाती थी। नमक निकालने







बनाया था। उससे भाफ का इञ्जन भी चलता था, ईं चल सकता था। परन्तु भारतीय पूँजीपतियों ने उसे आ दिया। एक अत्यन्त उपयोगी आविष्कार व्यर्थ गया।

## १२—काव्य के उपकरण

[ लेखक—श्री श्यामसुन्दरदास ]

सौंदर्य



नि

स्वीम भावजगत् से, जिसे गोस्वामी जी ने 'भावभावभेद' का विशेषण दिया है, यथेच्छ भावराशि चुनकर सज्जित करना ही काव्य की व्यापक व्याख्या हो सकती है। यही से यह स्पष्ट हो जाता है कि चयन और साज-सज्जा प्रत्येक काव्य की प्राथमिक विशेषताएँ हैं। इन दोनों के विभेद प्रायः अगणित होते हैं। इस दृष्टि में काव्य का कोई एक स्वरूप-निर्धारण नहीं किया जा सकता। केवल उसके प्रमुख उपकरण जाने जा सकते हैं। एक व्यक्ति अपने भावों की अभिव्यक्ति करना चाहता है, अर्थात् उसकी इच्छा काव्य रचने की होती है। वह प्रथम बार एक प्रकार के शब्दों तथा वाक्य-समुच्चयों का प्रयोग करता है; पर उसे संतोष नहीं होता; क्योंकि वे शब्द तथा वे वाक्य-समुच्चय उसके भावों को व्यक्त करने में अमफल और अममर्थ होते हैं। वह पुनः प्रयत्न करता है। इस बार दूसरे शब्दों तथा छंदों आदि से काम लेता है। फिर भी अभिव्यक्ति का स्वरूप उसे असुन्दर जान पड़ता है। अनेक बार प्रयत्न करने के बाद एक बार आप में आती उसकी लेखनी में प्रकृत रचना फूट निकलती है। वह इस



सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असम्भव हो। जिस प्रकार काव्य में सुन्दरता का निरूपण करके उसकी स्पष्टता सर्वमान व्याख्या करना असम्भव है, उसी प्रकार समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध में सुन्दरता का आदर्श देना करना असम्भव है। यद्यपि सुन्दरता, असुन्दरता आदि शब्द सापेक्षिक भावों के द्योतक हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न देशों में इसकी कसौटी भिन्न तथा अपने आदर्श, मस्कृति और सभ्यता के अनुसार निश्चित की गई है। उदाहरण के लिए यदि हम मानव शरीर की सुन्दरता का आदर्श अपने सामने रख ले तो इस विभेद का स्पष्टीकरण भली भाँति हो जायगा। किमी देश में छोटे पाँव और छोटी आँखें सुन्दर मानी जाती हैं तो दूसरे देश में सुडौल पाँव तथा लम्बी या गोल आँखें सुन्दर मानी जाती हैं। कहीं भूरे बाल और कज्जी आँखें सुन्दरता-सूचक समझी जाती हैं, दूसरे देशों में काले बाल तथा काली आँखें ही सुन्दरता का आदर्श हैं। इसी प्रकार बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि आदर्शों में इतने भेदों का क्या कारण है? विचार करने पर इसका मूल कारण रुचि-वैचित्र्य तथा भिन्न-भिन्न संस्कृतियों तथा सभ्यताओं का क्रमिक विकास जान पड़ता है। सब देशों ने अपने-अपने देवी-देवताओं को ऐसा रूप दिया है जिसे उनकी कल्पनाओं ने सर्वोत्तम निर्धारित किया है। इस आदर्श को रखकर हम प्रत्येक देश की सुन्दरता की कसौटी जानने में समर्थ हो सकते हैं। इसी प्रकार काव्य की सुन्दरता भी भिन्न-भिन्न रुचि तथा आदर्शों पर निर्भर रहती है और यह आपेक्षिक विभेद केवल व्यावहारिक सामञ्जस्य के लिए आवश्यक है, तत्त्व-निर्धारण के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सौन्दर्य काव्य का अनिवार्य उपकरण है।

## रमणीय अर्थ

रमणाधार' नामक संस्कृत ग्रन्थ में कहा गया है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। अर्थ की रमणीयता के अन्तर्गत कुछ विद्वान् शब्द की रमणीयता भी स्वीकार करते हैं। प्रश्न यह है कि रमणीयता में किन्तु विशेष तत्त्व का बोध होता है जिनकी हम एक निश्चित परिभाषा कर सकें। इस देश के पुराने विद्वानों की यह रीति थी कि वे अपने विचारों को मंजिम से मंजिम शैली में अर्थानुसूत्र कारिका आदि के रूप में प्रकट करते थे। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो उनमें सूत्रकारों की बुद्धि का अपूर्व चमत्कार देख पड़ता है। क्या वह चमत्कार रमणीयता की उपाधि नहीं धारण कर सकता? विद्वानों के लिए अवश्य ही करता है परन्तु बहुतों को इनमें कुछ भी रमणीयता नहीं मिलती। जब उन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या की जाती है तभी उनकी रमणीयता उन्हें प्रकट होती है। उनएव सूत्ररचना-काल के उपरान्त संस्कृत साहित्य के इतिहास में वह काल आया जब व्यास-रूप में विषयों का निरूपण किया जाने लगा। ऐसे निरूपणों में रमणीयता विशेष मात्रा में मानी गई। परन्तु यहाँ भी मात्रा का ही प्रश्न रहा। पश्चिम में भी नवीन काल में बहुत से विषयों की व्याख्या सूत्ररूप में ही की जाती थी। परन्तु धीरे-धीरे उन प्रणाली इतनी गहरी विषय-निरूपण विस्तारपूर्वक किए जाने लगे। काव्य की व्याख्या करनेवालों ने कहा— काव्य के अन्तर्गत वे वास्तविक आत्मा चाहिये जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति की विशेषता के कारण मानव-हृदय का स्पर्श करनेवाली हो जिनमें रूप-साष्ठव का मूलतन्त्र तथा उसके अंग

आनन्द का जो उद्भेद होता है उसकी मामूली विशेष  
 से वर्तमान हो ।' व्याख्याकार का आशय अर्थ की रस  
 से स्पष्ट ही है । इसी रमणीयता के मोह में पड़कर कुछ  
 या ग्रन्थकार ऐसे भी हो गये हैं जिन्होंने वैद्यक और  
 के ग्रन्थों को भी रमणीय बनाने का बीड़ा उठाया था ।  
 उस प्रकार की रचना इस उद्देश में की थी कि लोग उनके  
 को चाव से पढ़ें । लोल्लिवराज कृत वैद्यजीवन और  
 पुस्तकें ऐसी ही हैं । ये दोनों ही संस्कृत भाषा में हैं ।  
 शास्त्र की भी दो एक पुस्तकें इसी ढंग की हैं । परन्तु प्रश्न  
 है कि उनमें कितनी वास्तविक रमणीयता मिलती है और  
 उन ग्रन्थकारों की यह चेष्टा अनधिकृत नहीं थी ? ज्ञान  
 प्रत्येक क्षेत्र रमणीयता का ही क्षेत्र नहीं बनाया जा  
 और न वैद्यक के ग्रन्थ में कविता-पुस्तक की सी रमणीय  
 लाई जा सकती है । जो विषय शास्त्रीय बुद्धि की अपेक्षा  
 हैं और जिनमें मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य और रोगोपचार  
 संबंध हैं उन्हें रमणीय बनाने का प्रयत्न विशेष रूप में कृत्रिम  
 हो जाता है तो भी रमणीयता के मन्निवेश से वे शुष्क विषय में  
 कुछ न कुछ आकर्षक बन ही जाते हैं । माराग यह है कि विविध  
 विषयों में रमणीय अर्थ का प्रतिपादन विविध मात्रा में या  
 अथवा अयोग्य होना है और 'रमणीय अर्थ' स्वयं ही एक  
 भाषेच्छिक शब्द है । तथापि इतना तो अवश्य ही प्रकट है कि  
 वह काव्य का एक आवश्यक उपकरण है ।

### अलंकार और रस

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन के लिए संस्कृत में अलंकारों के  
 विशेष रूप में योजना की गई है और रस तो काव्य की आत्मा  
 ही माना गया है । अलंकार का प्रयोजन उस अंग-विशेष में

क आकर्षक बना देता है जिस पर वह धारण किया जाय।  
 वाक्यों की आँखें उस अंग-विशेष में गड़ जायें इसी प्रयोजन  
 अलंकारों की सार्थकता है। काव्य में भी अनेकानेक अर्था-  
 र और शब्दालंकार बनाये गये हैं जिसमें वे पाठकों का  
 उस वर्णन-विशेष की ओर आकर्षित कर दें और उनकी  
 आँखों को उसमें गड़ा दें। इसका परिणाम यह हो कि  
 वे चित्त किसी प्रबल मनोवेग से चमत्कृत हो जाय और  
 रसमय होकर उसके लिए आस्वाद्य बन जाय। धीरे-धीरे  
 अव्यालंकारों की तालिका बना दी गई और रस की एक  
 तैयार कर ली गई। परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो  
 अलंकारों की कोई गणना नहीं की जा सकती और न सीमा  
 भी जा सकती है। कभी-कभी तो अलंकार काव्य-कानिनी के  
 भार-स्वरूप बन जाते हैं, जिनसे उसकी स्वच्छ और नैसर्गिक  
 दृष्टि तिरोहित हो जाती है। यह भी देखा जाता है कि एक  
 विशेष के ग्रथकार जिन अलंकारों को सुमति के साथ मजाने  
 दूसरे युग के लेखक उन्हें हेय समझते हैं। परिपाटी के अनु-  
 सार जिन ग्रन्थ में जो अलंकार शांभा के आगार और सुमन  
 संचार करनेवाले माने गये हैं समय और रसि के भेद ने  
 रस का भी प्रभाव करते हैं। इसलिए अलंकारों को श्रवण व्य-  
 त्त वह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यही बात रस के  
 लिए भी कही जा सकती है। कथन की काह शला विचारों का  
 यह उद्धान जब हृदय का जेद पुर हो चला है और 'कल'  
 मनोवेग से चित्त चमत्कृत हो चुका है तब रस का  
 प्रभाव समझा जा सकता है। परन्तु यह बात नहीं जान सकती कि  
 काव्य में सवत रस-निरूपण होती है अतः रस का प्रभाव  
 के जहाँ-जहाँ हो सजावन होता है। रस का प्रभाव का प्रभाव को











कितने रगत्प हैं ? सब मिलकर एक अखंड अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेते हैं। अवश्य ही यह अभिव्यक्ति-परंपरा जगत की एक शाश्वत और अनिवर्चनीय विभूति है, जिसको हम साहित्य के रूप में निर्वचन करते हैं।

### लोकहित

महाकवि रवीन्द्रनाथ तथा उनके अनुयायियों ने सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के तीन गुणों का आरोप जब से काव्य साहित्य में किया तब से प्रत्येक साधारण समीक्षक के विचार में इन तीनों गुणों का अभिन्नत्व मान्य हो गया है। जब कभी काव्य की चर्चा होती है, इनका उल्लेख किया जाता है। परन्तु जिन्होंने इन विषय में कुछ गभीर विचार किया है और तथ्य को जानने की चेष्टा की है वे समझते हैं कि सौन्दर्य तथा सत्य तो काव्य के आवश्यक अंग हैं; परन्तु उसके 'शिवत्व' 'लोकहित' आदि के विषय में बहुत कुछ मतभेद है। आधुनिक यूरोप में इस विषय को लेकर अपरंपार विवाद किये गये हैं। कुछ विद्वानों ने लोकहित को काव्य-विवेचन से बहिष्कृत कर दिया है और उसकी चर्चा करना भी काव्य की सीमा में अनुचित समझा है। इसके विपरीत कुछ धार्मिक प्रकृति के लोगों ने काव्य में लोकहित का माधन-मात्र मान लिया है और उसके शेष गुणों को अवहेलना कर दी है। इन परस्पर-विरोधी मतों के मध्यस्थ कितने ही अन्य मत खंडे हुए हैं जिन्होंने बड़े सुदृढ़ आधारों पर अपना अड्डा जमाया है। हम यह मन्ते हैं कि काव्य में लोकहित एक विषय है जिस पर प्रत्येक पक्ष में विचार किया गया है।

जो विद्वान काव्य और कलाओं के सम्बन्ध में गतिमान हैं, वे ने विचार करते हैं वे कहते हैं कि कलाएँ भी इस जगत्



सका असाधारण सत्य ही उसकी मुख्य अतरंग विशेषता होती है और धार्मिक तथा अन्य उपकरण कलाकार के व्यक्तित्व अथवा देश-काल के वातावरण में प्रवेश कर कला के सौन्दर्य और सत्य का उन्मेष करते हैं।

भारत में बौद्धकाल की, तत्रकाल की तथा गुप्त-काल की मूर्तियों का अध्ययन करनेवाले विद्वानों को उनमें उन कालों की धार्मिक, सामाजिक तथा आचार-सन्वन्धी छाप मिलती ही है। बहुत-सी मूर्तियों की रचना तो बौद्ध जातको, तांत्रिक और ब्राह्मण ग्रन्थों की कथाओं का आधार लेकर गई हैं। किसी देश, काल अथवा जाति के विचारों की ऐसी परम्परा बन जाती है और उस परम्परा का इतना बलशाली प्रभाव पड़ता है कि कलाओं का विकास बन्द हो जाता है। इस्लाम की धर्मपुस्तकों ने एफ़ेस्वरवाद की जो भावना दृढ़ हुई और तत्कालीन नव मुस्लिम अधिपतियों ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध जो आक्रमण किये वे कला और आचार का ऐतिहासिक सन्बन्ध बतलाने में बहुत कुछ सहायता पहुँचा सकते हैं। उनका सार अर्थ यही जान पड़ता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कला और आचार कला और धर्म कला और दार्शनिक परम्परा का कार्य-कारण-सन्बन्ध स्वीकार करना चाहिए।

परन्तु इतिहास के इस निष्कर्ष का अर्थ न समझकर कुछ अद्भुत प्रकार के तथाकथित आदर्शवादी मनोज्ञ कलाओं के वास्तविक सत्य को न समझकर धार्मिक विचार से उनकी तुलना करते हैं। उनके लिए धार्मिक आदेशों का शुद्ध रूप ही प्रष्ट कला का नियन्ता तथा नाप-दण्ड बन जाता है। ये कला-मनोज्ञ किन्ती सुन्दर तथा सुगठित मूर्ति का नग्न सौन्दर्य सहन नहीं कर सकते, न उस कला-सत्य का अनुभव कर सकते हैं जो उस नग्नता से प्रस्फुटित हो रहा है। इनमें कल्पना का इतना अभाव





इस अन्तिम विचार के अनुसार कलाओं में लोकहित आदि 'शिवत्व' की प्रतिष्ठा आप से ही आप हो जाती है। परन्तु कला-समीक्षकों को यह मूल तत्व विस्मरण न होना चाहिए कि तत्वेक काव्य का अथवा कला-कृति का निर्माता व्यक्ति-विशेष होता है। फिर उसके शिवत्व का स्वरूप भी उसी के विकास के अनुकूल होगा। और उस शिवत्व को अपनी कलावस्तु में स्थापित करने के लिए उसे कला के उपर्युक्त सौन्दर्य और सत्य का भी विचार रखना पड़ता है। वह ऐसा नहीं कर सकता कि लोकहित का ध्यान करके उपदेशों का पहाड़ निर्माण करने लगे और कला के वास्तविक सौन्दर्य तथा उसके अनाधारण प्रभाव का मूल तत्व ही विस्तार दे।

अंग्रेजी साहित्य में जब से मेथ्यू आर्नल्ड का साहित्य जीवन की व्याख्या है सिद्धान्त प्रचलित हुआ तब से कलाओं के लोक-पक्ष पर विशेषरूप से आग्रह किया जाने लगा। आर्नल्ड के ही नवकालीन कलाशास्त्री वाल्टर पेंटर ने सौन्दर्य की नौकी लेना सुन्दर को असुन्दर से पृथक् करना और उनका रस प्राप्त करना यही कला-समीक्षा का क्षेत्र बतलाकर माना आर्नल्ड के लोकपक्ष की बराबरी पर अपना सौन्दर्य-पक्ष स्थापित किया जा। इन दोनों पक्षों में कोई तात्त्विक विरोध नहीं है इसका प्रमाण तो इतने ही से लग जाता है कि आर्नल्ड और पेंटर दोनों ही उच्छुष्ट समीक्षकों ने नमान रीति से कवियों के काव्य की आलोचना की और वे प्रायः एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे परन्तु यूरोप में ये दोनों ही पक्ष हठवादिता के केन्द्र भी बना लिए गये जिसके कारण वास्तविक साहित्यालोचन चक्रवर्तु हो गया। और कला के लिए कला का प्रचार करने वाले परिद्वानों ने शास्त्रार्थ आरम्भ किया और दूसरी ओर दार्शनिकों ने



और काव्य के लिए यही मूल लोकाहित है। काव्य तथा कलाओं के सराहीन रूपों को देखते हुए और उनके प्रभाव को समझते हुए किन्ती त्वडिबद्ध, नियमित, लोकाहित को हम काव्य या कला को अग नहीं मान सकते। हा. कलाओं का लोकरूपन हमें स्वीकार है और हम यह मानते हैं कि संसार के अधिकांश श्रेष्ठ कलाकार मार्मिक और उच्च प्रकृति के महापुरुष हो गये हैं।

### १३—आँसू

[ लेखक—श्री बालकृष्ण भट ]

**म**नुष्य के शरीर में आँसू भी गड़े हुए खजाने के माफिक है। जैसे कभी कोई नाजुक वक्त आ पड़ने पर सख्खित पूजा ही काम देती है, उसी तरह हर्ष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावों को प्रकट करने में जब सब इन्द्रियाँ स्थगित होकर हार मान बैठती हैं, तब आँसू ही उन-उन भावों को प्रकट करने में सहायक होता है। चिरकाल के वियोग के उपरान्त जब किसी दिली दोस्त से मुलाकात होती है तो उस समय हर्ष और प्रमोद के उफान में अङ्ग-अङ्ग ढीले पड़ जाते हैं बाष्पनादगद कण्ठ रेंध जाता है जिह्वा इनती शिथिल पड़ जाती है कि उसमें मिलने की खुशी को प्रकट करने के लिए एक-एक शब्द मनों बोन-ना मालूम पड़ता है। पहले इसके कि शब्दों में वह अपना असीम आनन्द प्रकट करे महमा आन की नशे उसकी आत्मा में उमड़ आती है और नेत्र के पवित्र नम में वह अपने प्राण-प्रिय को नहलाता हुआ उसे वनजगार करने का हाथ फेरता है। मच्चें नक्त आर उपामक की स्मृति भी इसी में हो सकती है। अपने उपान्यदेव के नाम-स्मरण से जिसमें अश्रु-पान न हुआ





भगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द-विन्यास में ऐसा पानी नढ़ा कि उसमें एक तड़प भरके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। भवभूति के अनुसार—

व्यतिपत्ति पदार्थान्तर. कोऽपि हेतु  
न गतु बहिष्पाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।

वाण्य उपाधि से लटकर आन्तर हेतु की ओर प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन की योजना हुई हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे। शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने का है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ-बोध व्यवहार निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्यायवाची शब्द इसके प्रम हैं। इसी अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाण्य अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए। धनिक ने इसी बल पर कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। इसके लिए प्राचीनों ने कहा है—

मुक्ता-फलेषु च्छायायास् तरलत्वमिवान्तरा

प्रतिभाति यदगेषु तल लावण्यमिहोच्यते।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही छाया की, कान्ति की, तरलता अग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत साहित्य में छाया और विच्छिन्ति द्वारा कुछ लोगो ने निरूपित किया था। कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में कहा है—

प्रतिभा-प्रथमोद्भेद-समये यत्र वक्रता ।

शब्दानभिधेयोरंतः स्फुरतीव विभाव्यते ॥

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छिन्न, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना अन्य कवि का ही काम है। वैदग्ध्य-भंगी-भणिति में शब्द की कला और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है—

शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन  
मणावस्थानम् । (लोचन २०८)

कुन्तक के मत में ऐसी भणिति 'शाखादि-प्रसिद्धशब्दार्थोप-  
लब्ध-व्यतिरेकी' होती है। यह रम्यच्छायान्तर-स्पर्शी वक्रता  
रंगों में लेकर प्रवचन तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह  
वक्रता छायातिशय-रमणीयता वक्रता की उद्भासिनी है—

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचिद् ।

प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छाया मनोहराम् ॥

कभी-कभी स्वानुभव-सवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए  
विमानादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण  
है। जैसे—

वे आँखें कुछ कहती हैं ।

अथवा—

धनिनीलितदृशो मद-मन्थराया नाप्ययंयन्ति न च यानि निरर्थकानि  
अपि मे वरतनोर्नधुराणि तस्यास्तान्यधराणि हृदये किमपि धनन्ति ॥

किन्तु धनिकार ने इसका प्रयोग धनि के भीतर सुन्दरता  
के लिए किया ।

यत् खलपयक्रमो ज्ययो धनिर् उत्पदादिषु ।

वाक्ये न घटनाया च स प्रत्येकपि शेष्यते ।

यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद और वर्ण में दीप्त है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक तड़प उत्पन्न कर सकता है। आनन्दवर्धन के शब्दों में—

मुख्या महाकवि-गिरामलकृति-भृतामपि ।

प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषितः ॥

कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण जो पहन लिया जाता है वह नहीं है, किन्तु यौवन के रमणी-सुलभ श्री की बहिन ही है। घूँघटवाली लज्जा संस्कृत साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के साधन उत्पन्न कर चुकी है। अलोचन में एक स्थान पर लिखा है—

‘परां दुर्लभा, छायां आत्मरूपतां, यान्ति’ ।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत-काव्योत्कर्ष-काल में महत्त्व था। आवश्यकता इनमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, आन्तर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इनका प्रधान लक्ष्य। इस तरह की अभिव्यक्तिके उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया जा

‘निरहकार मृगाक’, ‘पृथ्वी गतयौवना’, ‘सवेदनमिवा मेघ के लिए ‘जनपद-वधू लौचनैः पीयमान’, या कामने कुसुम-शर के लिए ‘विश्वसनीयमायुध’—ये सब प्रयोग सादृश्य से अधिक आन्तर सादृश्य के प्रकट करनेवाले हैं। भी ‘आर्द्र ज्वलति ज्योतिरहमस्मि’ ‘मधुनक्तमुतोपसि पार्थिवं रज’ इत्यादि श्रुतियों में इस प्रकार की अभिव्यक्ति बहुत मिलती हैं। प्राचीनों ने भी प्रकृति की चिरनि शब्द अनुभव किया था—





न हुआ हो ; इन्द्र से उनका स्पर्श न होकर नस्तिष्क से हो  
हो गया हो ; परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का  
नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छायाभात्र हो, वास्तविकता का स्  
न हो, वही छायावाद है। हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं  
प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है, इसलिए प्रकृति  
को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की दृष्टि हो  
है यह सिद्धान्त भी भ्रान्तक है। यद्यपि प्रकृति का आत्मन्  
त्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य, नवीन काव्य-धारा में हो  
लगा है किन्तु प्रकृति से मन्वन्ध रखनेवाले कविता को  
'छायावाद' नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की  
भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाञ्छिका-  
सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान, तथा उपचार-वक्रता के साथ  
त्वानुभूति की विवृति—छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने  
भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव  
समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

## १५—दुबेजी की संपादकी

[ लेखक—श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ]



क बार अपने राम को सन्पादक बनने की धुन  
सवार हुई। क्योंकि बिना सन्पादक बने जिन्दगी का  
लुत्फ नहीं। दूसरे, एक ज्योतिषी ने जन्मपत्र  
देखकर बताया था कि आपका अफसरी का योग है,  
कुछ दिनों के लिए आप अफसर बन कर हुकुम चलावेगे। अपने  
राम ने बहुत सोचा कि आखिर अफसर कैसे बनेगे? फौज,



लिए राजा लोग चलाई कर के राज्य को अपने अधिकार में कर  
 दे। इसी प्रकार अपने गम को भी चलाई कर के किसी पत्र पर  
 अधिकार जमाना चाहिये। यह सोच कर एक पत्र के दफ्तर में  
 पहुँचे। उस दफ्तर में एक डेनिक, एक मास्टरिक और एक  
 नामिक—तीन पत्र निकलते थे। आफिस के द्वार पर पहुँचकर  
 चपरासी ने पूछा—इस दफ्तर के अन्दर कौन-कौन बैठता है?

चपरासी अपने गम को मिर में पेश कर देकर बोला—  
 क्यों, क्या काम है?

“काम तुम्हें क्या बताने? कुछ एक दिन का काम थोड़ा  
 ही है। अब तो रोज ही काम रहेगा।”

दफ्तर में आप किससे मिलना चाहते हैं?—चपरासी ने  
 भौंटे मित्रों को पूछा।

“जो हमसे मिलने लायक हो।”

“मुझे क्या मालूम कि आप कौन हैं और किसलिए  
 आये हैं?”

“हम सम्पादक हैं और सम्पादक करने आये हैं।”

इतना सुनते ही चपरासी कुछ मुलायम पड़कर बोला—  
 ओहो! आप बुलाये गये हैं या अपना खुशामद आये हैं?

“हम जहाँ जाते हैं अपना इच्छा से ही जाते हैं। हमें बुला  
 कौन भकुआ सकता है?” हम किसी को नाकर हूँ क्या?”

इतना सुनते ही चपरासी चार कदम पाछे हटकर खड़ा हुआ  
 और बोला—अच्छा साहब, आप चाहें जैसे आये हों—मुझे  
 क्या? आप अपना कार्ड दोजिये तो मैं जाकर मैनेजर साहब  
 को दे दूँ।

अपने गम के पास कार्ड था नहीं और न घर में था। बहुत  
 पहले एक बार कार्ड छपवाये थे परन्तु वे धरे-धीरे गल गये,

## दुबेजी की सम्पादकी

मही न पड़ा। तब से कार्ड छपवाये ही नहीं। हमने  
से कहा—कार्ड-वार्ड अपने पास है नहीं। जवानी  
कह दो कि विजयानन्द दुबेजी आये है।

चपरासी "विजयानन्द दुबेजी" रटता हुआ चला गया।  
देर बाद आकर बोला—चलिये, बुलाते हैं।  
चपरासी के साथ मैनेजर साहब के पास पहुँचे। उन्होंने  
ते ही मुस्कराकर कहा—आइये दुबेजी, कहिये आज कैसे  
गा की?

अपने राम बोले—हम आपके यहां सम्पादकी करने आये है।  
"अच्छा। तब तो हमारा अहोभाग्य है!"

"वैशक। अहोभाग्य न होता तो हम स्वयं चलकर न  
आते।"

मैनेजर कुछ क्षण सोचकर बोला—कहिये, किस विभाग  
की सम्पादकी कीजियेगा? साप्ताहिक की, दैनिक की, अथवा  
मासिक की?

अपने राम बोले—सम्पादकी तो दैनिक ही अच्छी है  
जिसमें रोज-रोज सम्पादकी करने को मिलती है।

मैनेजर ने कहा—परन्तु मेरी मलाह यह है कि पहले आप  
साप्ताहिक से आरम्भ करें। दैनिक में परिश्रम भी अधिक पड़गा।  
और दैनिक के काम के योग्य अभी आपसे अनुभव भी न होगा।

‘अजी’ अनुभव की बात आप क्या समझते हैं सम्पादकी  
भी कोई बजाजी है जो अनुभव की आवश्यकता हो सम्पादकी  
ही तो एक ऐसा पेशा है जिसमें अनुभव की जगह भी आवश्यकता  
नहीं पड़ती। जहाँ थोड़ा लिखना-पढ़ना आया आंग दो चार लेख  
किसी पत्र में निकल गये वन सम्पादक बनने के काबिल हो गये  
मैनेजर साहब हँसकर बोले—वाह! यह आपने अच्छे

लिए राजा लोग रद्दी कर के राज्य को अपने अधिकार में कर दे। इसी प्रकार अपने राम को भी रद्दी कर के। कमी पर प अधिकार जमाना चाहेंगे। यह सोच कर एक पत्र के द्वारा नेत्र पड़ने। इस प्रकार से एक इन्जिन, एक मास्टरक और एक मासिक—तीन पत्र निकलते थे। आफिस के द्वार पर पहुँचकर चपरासी ने पत्र—इस प्रकार के अन्तर कान-कान देना है?

चपरासी अपने राम को गिर से पेर तक देव कर बोला—  
क्या, क्या काम है ?

‘काम तुम्हें क्या बतावे ? कुछ एक दिन का काम बीड़ा ही है। अब तो राज ही काम रहेगा।’

दफ्तर में आप किससे मिलना चाहते हैं ?—चपरासी ने नौटं सिकोड़कर पूछा।

“जो हमसे मिलने लायक हो।”

“मुझे क्या मालूम कि आप कान है और किसलिए आये हैं ?”

“हम सम्पादक हैं और सम्पादका करने आये हैं।”

इतना सुनते ही चपरासी कुछ मुलायम पडकर बोला—  
‘आहो ! आप बुलाये गये हैं या अपना खुशाम आये है ?’

हम जहा जाते हैं अपना इच्छा से हा जात है। हमने मुला कान भकुआ सकता है ? हम किर्मी के नाकर ह क्या ?”

इतना सुनते ही चपरासी चार कदम पाछे हटकर सड़ा हुआ ओर बोला—अच्छा साहब, आप चाहें जैसे आये हा—मुझे क्या ? आप अपना कार्ड दीजिये तो मैं जाकर मैनेजर साहब को दे दूँ।

अपने राम के पास कार्ड था नहीं और न घर में जा। बहुत पहले एक बार कार्ड छपवाये थे परन्तु वे धरे ही धरे गल गये।



कही ! सन्पादकी के लिए बड़े अनुभव की आवश्यकता है ! पश्चिमी देशों में तो यह कला वाकायदा सीखनी पड़ती है । कई वर्षों तक सीखने के पश्चान् तब सन्पादन-कला का ज्ञान होता है ।

अपने राम विगड़कर बोले—पश्चिमी देशों की बात हिन्दुस्तान पर लागू नहीं होती । हिन्दुस्तानियों में तो यह गुण ईश्वरदत्त है । हिन्दुस्तानी पैदायशी सन्पादक होते हैं । उन्हें यह कला सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

मैनेजर साहब बबराकर बोले—अच्छा साहब, जैसा आप कहे वैसा ही सही । अच्छा तो आप साप्ताहिक में कुछ दिन काम कीजिये । कुछ दिन बाद जब आप भली भाँति काम करना सीख जायेंगे तो तनख्वाह निश्चित कर दी जायगी ।

“काम सीख जायेंगे !—बस यही बात मत कहिये । तनख्वाह चाहे मत दीजिये । हम सिखा सकते हैं—सीख तो सात जन्म में भी नहीं सकते । रही तनख्वाह, सो उसकी चिन्ता अपने राम को नहीं है । क्योंकि अपने राम को एडोटररी से प्रेम हो गया है मुहब्बत हो गई है । अपना तो यह सिद्धान्त है कि—

एडिटरी भी बल्लाह क्या चीज है ?

एडिटरी में तनख्वाह क्या चीज है ?”

मैनेजर ने कहा—अच्छी बात है, जैसी आपकी इच्छा !

वैर साहब, अपने राम जब साप्ताहिक विभाग में पहुँचे तो मालूम हुआ कि उनमें एक प्रधान-संपादक तथा दो उपसंपादक पहले से ही डटे हुए हैं । यह बात अपने राम को बहुत अन्वरी क्योंकि अपने राम तो निष्पट्टक राज्य चाहते थे । वर, यह मोचकर मत्र किया कि कुछ दिनों पर्याप्त इन सब को बना बनाकर अपने राम अकेले ही सन्पादक बन जायेंगे ।



वै सन्पादकजी ने एक अंग्रेजी का सनाचार-पत्र देकर कहा—इसमें जिन-जिन सनाचारों पर निशान लगे हैं उनका अनुवाद हिन्दी में कर डालिये ।

इन्ना सुनते ही अपने राम के निजाज का पारा खून खौलाने वाली डिमी तक पहुँचकर रुक गया । अतएव अपने राम विगड़ कर बोले—देखिये जनाब ! हम सन्पादकी करने आये हैं, अनुवाद-सन्वाद हमसे न होगा । यह काम कम्पोजीटरों का है, सन्पादकों का नहीं ।

सन्पादकजी चकित होकर बोले—क्या कहा ? कम्पोजीटरों का है ?

‘जी ! आप इतना ही सुनकर चौंक पड़े । यदि मैं प्रधान सन्पादक होता तो अंग्रेजी पड़े-लिखे कम्पोजीटर रखता जो अंग्रेजी सनाचार-पत्र सामने रखकर उसे हिन्दी में कम्पोज करते । उससे समय की कितनी बचत होती ?”

“परन्तु ऐसे कम्पोजीटर मिलते कहाँ ?”

“अजी, मिलने की न कहिये । जब परमात्मा मिल सकता है तो सब कुछ मिल सकता है । ढूँढनेवाला चाहिए ।”

“अच्छा अनुवाद न कीजिये । एतैन्दली की कार्यवाही बढ़कर उसका साराश अपनी टिप्पणी-सक्ति लिख डालिये ।”

“यह भी आप एक व्यर्थ काम बता रहे हैं । एतैन्दली ने जनता के हित की सौन-सी बात होती है । उनके लिखने में फायदा ”

‘हित की न सही सहित की तो सगे पर एतैन्दली की कार्यवाही तो जनता के सामने रखनी ही पड़ेगी ।”

“अहित की बात से अपने राम को लो दूर रहते हैं । अपने राम तो जनता के हित के साथ हैं । मनुष्य खदरे राखकर जनता का दिल दुखाना अपने राम पाप मननने है ।”







“आपका चेहरा तो यह कहता है कि हँसी कभी आपके मुहल्ले से भी न निकली होगी । पितृपक्ष का जन्म तो नहीं है आपका ?”

“जी नहीं, मैं हँसता हूँ और खूब हँसता हूँ ।”

“विला वजह ?”

इस पर सन्पादक जी ने इस प्रकार घूरकर देखा मानो खा जायेंगे । मैंने बात का प्रसंग बदलने के लिए कहा—मनोरञ्जन लिखवाना है तो शहर के सेठ-साहूकारों पर, न्यूनिस्पेलिटी के मेन्बरो पर, लिखवाइये तो कुछ आनन्द भी आवे । ऐसी फन्तियाँ जमाऊँ कि याद करें ।

“इससे क्या होगा ?”

“सारे शहर पर आपकी धाक जम जायगी । बहुत से बोदे दिल के आप से डरने लगेंगे । व्याह-वराता तथा पार्टियों में सब से पहले आप बुलाये जायेंगे । लोग आपकी खुशामद इस डर से करते रहेंगे कि कहीं हमारे सम्वन्ध में ऐड़ी-वैड़ी बात न लिख दें । असली सन्पादन तो यही है । मुख्य लेख टिप्पणियाँ और समाचार तो सभी लिख लेते हैं । इनमें कौन खूबी है ?”

सन्पादकजी ने अपने राम की बात का कोई उत्तर न दिया ।

तीसरे दिन मैंनेजर साहब ने बुलाकर कहा—आप नासिक विभाग से काम कीजिये । दैनिक में आपकी आवश्यकता नहीं है ।

अतएव अपने राम नासिक विभाग में गये । वहाँ भी कई सन्पादक डटे थे । अपने राम के दुर्भाग्य ने कोई विभाग ऐसा न मिला जहाँ अपने राम एक ब्रह्म द्वितीयो नास्ति बनकर रहते ।



"अगर आप ऐसा करेंगे तो बड़ी गलती करेंगे । यदि आप उनके स्वेच्छापूर्वक लिखने दें तो केवल आपका पत्र ही सर्वश्रेष्ठ रह जाय और सब को रद्दी कर डालूँ । अन्य पत्रों की जिन बातों को लोग गुण समझते हैं उन्हीं को ऐव प्रमाणित करके दिखाऊँ । जिसे लोग सर्वश्रेष्ठता समझते हैं उसे सर्व निरुपुता बना कर छोड़ूँ । जिस साहित्यिक के पीछे पड़ जाऊँ उसे मिट्टी में मिल जाना पड़े । सन्पादन इसी का नाम है और सब राम का नाम है ।"

सन्पादकजी ने पुस्तकें समेट लीं और बोले—आप कष्ट मत मोजिये, हम समालोचना लिख लेंगे ।

"अच्छी बात है । परन्तु इतना मैं अवश्य कहूँगा कि आप सन्पादन-कला में विलकुल ही कोरे हैं ।"

"आपकी बला से ।"

चौथे दिन आफिस जाने की तैयारी कर ही रहे थे कि चपरासी ने एक चिट्ठी लाकर दी । उसमें मैनेजर साहब की ओर से लिखा हुआ था—"प्रिय दुबेजी, इस समय आपके योग्य कोई स्थान हमारे यहाँ खाली नहीं । स्थान रिक्त होने पर आपको भूषना दी जायगी ।"

इस प्रकार अपने राम तीन दिन की अफसरी के बाद निराला बाहर किये गये । यह अपने राम का दुर्भाग्य है । अन्यथा हमारे जैने अनेक सन्पादन-कलाविद् अच्चे-अच्चे पत्रों के सन्पादक हैं ।

पर, अपने राम की जन्मपत्रों को विधि से मिल गई, इतना ही सन्तोष है ।









मे निपुण न होते हुए भी राम ने हर एक हृदय में प्रेम-कला की कुञ्जी रख दी है। इस कुञ्जी के लगते ही प्रेम-कला की सन्पूर्ण मन्भूति अज्ञानियों और निरक्षरों को भी प्राप्त हो सकती है :—

All arts are nothing but Samadhi applied to love

We are all born geniuses only if we will. The Painter, the Sculptor, the Poet and the Prophet have only been selected to love objects unseen by the ordinary human eye.

कवि सदा बादलों से घिरे हुए और तिमिरान्धन्न देश में रहता है। वहाँ चले हुए बादलों के टुकड़े माता, पिता, भ्राता, भगिनी, सुत, दारा इत्यादि के चक्षुओं पर आकर छा जाते हैं। मैं अपनी आखाँ इनको छमछम बरसते देखा है। जिस आध्यात्मिक देश में कवि, चित्रकार, योगी, पीर, पैगम्बर, आलिया विचरते हैं और किसी और को घुसने नहीं देते, वह नारे का सारा देश इन आम लोगों के प्रेमाश्रुओं से धुल-धुलकर बह रहा है। आओ मित्रो ! स्वर्ग का आम नीलाम हो रहा है—

Paradise is at the on hand & ready to hand.

सर वाल्टर स्कॉट अपनी 'लेडी प्राव् दि लेक' नामक कविता में बड़ी खूबी से उन अश्रुओं की प्रशंसा करते हैं जो अश्रु पिता अपनी पुत्री को आलिंगन करके उसके केशों पर मोती की लड़ी की तरह बखेरता है। इन अश्रुओं को वे अद्भुत दिव्य-प्रेम के अश्रु मानते हैं। सच है, सत्कार के गृहस्थ-मात्र के सन्वन्धों में पिता और पुत्री का सन्वन्ध दिव्य-प्रेम ने भरा है। पिता का हृदय अपनी पुत्री के लिए कुछ ईश्वरीय हृदय से कम नहीं।



## नयनों से गंगा

पवित्र हृदय से बहकर बहने का अधिकारी हो जाय। प्रकृति ऐसा  
 बन बिना पवित्रात्मा के किसी से नहीं दे सकती। नौजवान के  
 दिल में कई प्रकार की उमंगें उठती हैं। उसी नाड़ी-नाड़ी में  
 नया रक्त नया जोर और नया जोर आता है। लड़ाई में अपनी  
 प्रियता का खयाल ही उससे घोर बना देता है। उसी के ध्यान  
 में वह पवित्र दिल निडर हो जाता है। नीत से जोतर उस  
 अपनी नियतता से पाता है। ऊँचे से ऊँचे आदर्श को अपने  
 मानने रखकर वह राम का लाल तन-मन में दिन-रात उसके पाने  
 का यत्न करता है और जब उसे पालेता है तब हाथ में विजय  
 का तुरा लहराते हुए एक दिन अरस्मान उस कन्या के सामने  
 आकर खड़ा हो जाता है। कन्या के नयनों से गंगा वह निकलती  
 है और उस लाल का दिल अपनी प्रियता को मूझन प्राणगति  
 में लहराता है, सापता है और शरीर जानहीन हो जाता है।  
 बेचन होकर वह उसके चरणों में अपने आपको गिरा देता है।  
 कन्या तो अपने दिल को दे हो चुकी थी, अब इस नौजवान ने  
 आकर अपना दिल अर्पण दिया। इस पवित्र प्रेम ने दोनों  
 के जीवन को रेशमी डोरों से बाँध दिया—तन-मन का होश अब  
 वहाँ है। मैं तू और तू मैं वाली नद-होशो हो गई। यह जोड़ा  
 माने ब्रह्म ने लीन हो गया। इस प्रेम में कदूरन लेशनात्र नहीं  
 होती। विक्टर ह्यूगो ने ले-मिज़ाबल में मेरोयन और कौन्ट के  
 ऐसे मिलान का बड़ा ही अच्छा वर्णन किया है। चांदनी  
 रात है। नद-नद पवन चमक रहे हैं। इन अजीब सी  
 आलपान खड़े हैं और वह जन्म का वह नौजवान वह तो  
 बाढ़ मिले है। मेरोयन के लिए न कृष्ण नमन इस देवी  
 नन्दिर-रूप हो रहा था। अपने हृदय के ज्ञान से सब  
 उसके उस देवी को वह आरतों करने लग रहा है। कौन्ट उस  
 बैठा है। कुछ मोठी-सीठी प्रेम भरी वन्दानें हो रही हैं।

में मारुतमयी हवा ने होमट्ट के सामने का सेंद्र उड़ा दिया। और भी ईश के लिए इस गढ़े की तरफ सफेद और पाँचवें दुर्गा ले चमकर दिया मगर मेरीयम ने फोर्स अपना मह पर ले रखा लिया। वह तो मेरीयम के लिए आया है, यानि अगर हर के नष्ट देना सकता।

रोमियो और जूलियट नामक रोम्माप्यर के प्रसिद्ध नाटक में जूलियट ने हिंस्र अराज में अपना दिल त्याग दिया और रोमियो के दिल की रानी हो गई।

वे हिस्से-कटागिया जिन में नाजवान साहजादे अपना दिन पहले दे देते हैं अनभिन्न मायूम होते हैं; और उनके लेखक प्रेम के स्वर्गीय नियम में अनभिन्न प्रतीत होते हैं। कुछ शक नहीं, कहीं-कहीं पर वे इस नियम को दरमा देते हैं, परन्तु सामान्य लेखों में पुन्य का दिल ही तथ्यता दिखलाते हैं। कन्या अपना दिल चुपके-से दे देती हैं। इस दिल के दे देने को सवर वायु, पुष्प, वृक्ष, तारागण इत्यादि को होती है। लेखी का दिल मजनु की जान में पहले धुल जाना चाहिए और इस अभेदता का परिणाम यह होना चाहिए कि मजनु उत्पन्न हो— इस यज्ञ-कुण्ड से एक महात्मा (मजनु) प्रकट होना चाहिए। सोहनी मेहीवाल के किस्से में असनी मेहीवाल उस समय निकलता है जब कि सोहनी अपने दिल को लाकर हाजिर करती है। राँभा हीर की तलाश में निकलता जरूर है, मगर सच्चा योगी वह तभी होता है जब उसके लिए हीर अपने दिल को बेले के किसी भाड़ में छोड़ आती हैं। शकुन्तला जगल की लता की तरह बेहोशी की अवस्था में ही जवान होगई। दुष्यन्त को देखकर अपने आपको रो बैठी। राजहंसों से पता पाकर दमयन्ती नल में लीन हो गई। राम के धनुष तोड़ने से पहले ही

नेत्र अने दिल को हार चुकी। सीता के दिल के बलिदान का यह अस्तर था कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम भगवान् वन-वन में गह वर्ष तक अपनी प्रियतमा के क्लेशनिवारणार्थ रोते फिरे।

भला सच्चे कन्यादान के यज्ञ के बाद कौन-सा मनुष्य-हृदय जिना नाच और पापी हो सकता है जो हवन हुई कन्या के सिवा किसी अन्य स्त्री को दुरी दृष्टि से देखे। उस कुरवान हुई कन्या के नातिर कुल जगत् की स्त्री-जाति से उस पुरुष का पवित्र सम्बन्ध हो जाता है। स्त्री-जाति की रक्षा करना और उसे आदर देना उनके धर्म का अंग हो जाता है। स्त्री-जाति में से एक स्त्री इस पुरुष के प्रेम में अपने हृदय की इसलिए आहुति दी है कि उसके हृदय में स्त्री-जाति की पूजा करने के पवित्र भाव उत्पन्न हों, ताकि उसके लिए कुलीन स्त्रियों माता समान, भगिनी समान, पुत्री समान, देवी समान हो जायें। एक ही ने ऐसा अद्भुत काम किया कि कुल जगत् की बहनों को इस पुरुष के दिल की डोर दे दी।

### सच्ची स्वतन्त्रता

आर्यावर्त में कन्यादान प्राचीन काल से चला आता है। कन्यादान और पतिव्रत-धर्म दोनों एक ही फल प्राप्ति का प्रतिपादन करते हैं। आजकल के कुछ मनुष्य कन्यादान से गुलामी हो हँसली मान बैठे हैं। वे कहते हैं कि क्या कन्या गौरी गाय, भैंस या घोड़ी की तरह बेजान और बेजगान वस्तु है जो उसका बिक्रय किया जाता है। यह सत्यता का फल है—साथ में सच्चे रास्ते से गुमराह होना है। ये लोग नर्सीर विचार नहीं करते। जीवन के आत्मिक नियमों से नाहिना नहीं जानते। कन्या प्रेम का नियम सबसे उत्तम पार बलवान बना है। कन्या ने अपनी जान को हार देना भयानक दंड है जो जीवन लेना नहीं

है ? क्या स्वतन्त्रता का यह मत जो केलिंगम ने रखा है, प्रथम प्रेम-भक्ति में स्थापित किया गया है ? यदि कुछ नहीं, तो आपकी प्रेम-भक्ति में स्वतन्त्रता का जो मत रखा गया है, और मेरा मत क्या है ? अपने आपको बंधा कर दो सदा स्वतन्त्रता नसीब होती है। मुझ नाम के आपको मोटा ज्ञान न मिले है—

“जैसे पुरुषों की प्रकृति शरीर पादों पर।

आप भी पादों पर शरीर पादों पर केसी चलाते हैं।”

अर्थात् यदि किसी मोक्षार्थी में प्रेम-भक्ति की प्रकृति तब तक है, जब तक स्वतन्त्रता नहीं मिली, तब तक वह तो उससे पता लगेगा कि अपने आपको प्रेम-भक्ति में स्थापित करने में मिलता है और कोई चतुराई नहीं चलाती।

True freedom, the highest summit of altruism and altruism is the total extinction of self in the self of all.

ऐसी स्वतन्त्रता प्राप्त करना हर एक आर्य-कन्या का आदर्श है। सच्चे आर्य-पिता की पुत्री गुलामी, कमजोरी और कमीनेपन के लालचों से सदा मुक्त है। वह देवी तो यहाँ ससाररूपी सिंह पर सवारी करती है। वह अपने प्रेम-सागर की लहरों में सदा लहराती है। कभी सूर्य की तरह तेजस्विनी और कभी चन्द्रमा की तरह शान्ति-प्रदायिनी होकर वह अपने पति की प्यारी है। वह उसके दिल की महारानी है। पति के तन, मन, वन और प्राण की मालिक है। सच्चे आर्य-गृहों में कन्या का राज है। हे राम ! यह राज सदा अटल रहे।

इसमें कुछ सन्देह नहीं कि कन्यादान आत्मिक भाव से तो वही अर्थ रखता है जिस अर्थ में सावित्री, सीता, दमयन्ती और शकुन्तला ने अपने आपको दान दिया था, और इन नमूनों





फासला तै करके, यहाँ तक पहुँचा तो दिया। जहाँ इनके काम मूढ़ता से भरे हुए जात होते हैं, वहाँ इनकी मूर्खता की अमोलता भी साथ ही साथ भासित हो जाती है। जहाँ ये कुछ कुटिलता-पूर्ण दिखाई देते हैं वहाँ इनकी कुटिलता का प्राकृतिक गुण भी नजर आता है। कई एक चीजें, जो भारतवर्ष के रस्मोरिवाज के खँडहरों में पड़ी हुई हैं, अत्यन्त गंभीर विचार के साथ देखने योग्य हैं। इस अजायबघर में से नये-नये जीते-जागते आदर्श सही सलामत निकल सकते हैं। मुझे ये खँडरात खूब भाते हैं। जब कभी अवकाश मिलता है मैं वहीं जाकर सोता हूँ। इन पत्थरों पर खुदी हुई मूर्तियों के दर्शन की अभिलाषा मुझे वहाँ ले जाती है। मुझे उन परम पराक्रमी प्राचीन ऋषियों की आवाजें इन खँडरात में से सुनाई देती हैं। ये सदेसा पहुँचानेवाले दूर से आये हैं। प्रमुदित होकर कभी मैं इन पत्थरों को इधर टटोलता हूँ, कभी उधर रोलता हूँ। कभी हनुमान् की तरह इनको फोड़-फोड़कर इनमें अपने राम ही को देखता हूँ। मुझे उन आवाजों के कारण सब कोई मीठे लगते हैं। मेरे तो यही शालग्राम हैं। मैं इनको स्नान कराता हूँ, इन पर फूल चढ़ाता हूँ और घंटी बजाकर भोग लगाता हूँ। इनसे आशीर्वाद लेकर अपना हल चलाने जाता हूँ। इन पत्थरों में कई एक गुप्त भेद भी हैं। कभी-कभी इनके प्राण हिलते-से प्रतीत होते हैं और कभी सुनसान समय में अपनी भाषा में ये बोल भी उठते हैं।

भारत में कन्यादान की रीति

भाई की प्यारी, माता की राजदुलारी, पिता की गुणवती पुत्री, सखियों की अलबेली सखी के विवाह का समय समीप आया। विवाह के सुहाग के लिए बाजे बज रहे हैं। सगुन मनाये जा रहे हैं। शहर और पास-पड़ोस की कन्याएँ मिलकर, सुरीले

1

1

1

1

दर्दनाक होते हैं। नयनों की गंगा घर में बहती है। माता-पिता और भाई को दैवी आदेश होता है कि अब कन्यादान का दिन समीप है। अपने दिल को इस गंगाजल से शुद्ध कर लो। यह होनेवाला है। ऐसा न हो कि तुम्हारे मन के संकल्प साधारण पुत्र जीवन के संकल्पों से मिलकर मलिन हो जायें। ऐसा ही होता है। पुत्री-वियोग का दुःख, विवाह का मंगलाचार और नयनों की गंगा का स्नान इनके मन को एकाग्र कर देता है। माता, पिता, भाई, बहन और सखियाँ भी पतिवरा कन्या के पीछे आत्मिक और ईश्वरी नभ में बिना डोर पतङ्गों की तरह उड़ने लगते हैं। आर्य-कन्या का विवाह हिन्दू-जीवन में एक अद्भुत आध्यात्मिक प्रभाव पैदा करनेवाला समय होता है, जिसे गहरी आँख से देखकर हमें सिर झुकाना चाहिए। विवाह के बाहरी शोरोगुल में शामिल होना हमारा काम नहीं। इन पवित्रात्माओं की उस अवस्था का अनुभव करके उनको अपने आदर्श-पालन में सहायता देना है। धन्य है वे सम्बन्धी जो उन दिनों अपने शरीरों को ब्रह्मार्पण कर देते हैं। धन्य हैं वे मित्र जो रजोगुणी हँसी को त्यागकर उस काल की महत्ता का अनुभव करके, अपने दिल को नहला-धुलाकर, उसे एक आर्यपुत्री की पवित्रता के चिंतन में खो देते हैं। सब मिल-जुलकर आओ, कन्यादान का समय अब समीप है। केवल वे सम्बन्धी और वही सखियाँ जो इस आर्य-पुत्री में तन्मय हो रही हैं उस वेदी के अन्दर आ सकती हैं। जिन्होंने कन्यादान के आदर्श के माहात्म्य को जाना है वही यहाँ उपस्थित हो सकते हैं। ऐसे ही पवित्र भावों से भरे हुए महात्मा विवाह-मण्डप में जमा हैं। अग्नि प्रज्वलित है। हवन की सामग्री से सतोगुणी सुगन्ध निकल-निकलकर सबको शान्त और एकाग्र कर रही है।

वाराणस चमक रहे हैं। ध्रुव और सप्तर्षि पास ही आन खड़े हैं। चन्द्रमा उपस्थित हुआ है। देवी और देवता इस लोक में विहार करनेवाली आर्य-पुत्री का विवाह देखने और उसे सौभाग्य-शीला होने का आशीर्वाद देने आये हैं। समय पवित्र है। इन्द्र पवित्र है। वायु पवित्र है और देवी-देवताओं की उपस्थिति ने सबको एकाग्र कर दिया है। अब कन्यादान का वक्त है। लिंगो ने कन्यादान के माहात्म्य के गीत अलापने शुरू किये हैं। नव के रोम खड़े हो रहे हैं। गले रुक रहे हैं। आंसू चल रहे हैं।

त्रिदुहती दुलहिन बतन से है,  
जब खड़े हैं रोम और गला रुकै है।  
फिफिर न आने की है कोई डब,  
खड़े हैं रोम और गला रुकै है।  
यह शीनो दुनिया तुम्हें मुबारक,  
हमारा दूल्हा हमें सलामत।  
पेयाद रखना यह आगिरी छवि,  
जबड़े हे रोम और गला रुकै है।

—स्वामी राम।

अब प्यारा वीर देवलोक में रमती देवी के समान अपनी सनाथित्य बहन के शरीर को अपने हाथों में उठाये इस देवी के भाग्यवान पति के साथ प्रज्वलित अग्नि के ईर्द-गैर्द फेरे देता है। इन साहने नोजवान का दिल भी अजीब नाचों से भर गया है। शरीर उत्तका भी उनके मन से गिर रहा है। उसे एक पवित्रात्मा कन्या का दिल जान प्राण, सबका सब अभी दान मिलता है। समय की अजीब पवित्रता, माता-पिता, नाई-बहन और सहेलियों के दिलों की आशाएँ सतोगुणी सक्ल्यो चातनूह; आये हुए देवी-देवताओं के आशीर्वाद; अग्नि और मेहंदी



दुःख विचर रहा है। प्यारे! हमारे यहाँ तो यही राधाकृष्ण गहर विचरते हैं।

नीता ने चारह वर्ष का वनवास कबूल किया; महलों में दान कबूल किया। दमयन्ती जंगल-जंगल नल के लिए गेली फिरी। सावित्री ने प्रेम के बल से यमराज को जीतकर अपने पति को वापस लिया। गांधारी ने सारी उम्र अपनी प्राणों पर पट्टी बाँधकर बिता दी।

अपि लोग सँदेशा भेजते हैं कि इस आदर्श का पूर्ण अनुभव नैपालन करने में कुल जगत् का कल्याण होगा। हे भारत-वासियों! इस यज्ञ के माहात्म्य का आध्यात्मिक पवित्रता से अनुभव करो। इस यज्ञ में देवी और देवताओं को निमंत्रित करने की शक्ति प्राप्त करो। विवाह को मखौल न जानो। यज्ञ खेल न करो। झूठी खुदगर्जी की खातिर इस आदर्श को विगमेट न करो। कुल जगत् के कल्याण को सोचो।

## १७—साहित्य-कला का उद्देश्य

[ लेखक—धीरुत प्रेमचन्द ]

लोचाल में हम अपने करीब के लोगों पर अपने विचार प्रकट करते हैं,—अपने तप-शोभ के भागों का चित्र खींचते हैं। साहित्यकार यही काम लेखनी द्वारा करता है। जो उसके आंताओं की परिधि बहुत रुत होती है, और अगर उसके यगन में सचारा है तो गाँवियों और युगों तक उसकी रचनाएँ पढ़ों का प्रभावित होती रहती है।

परन्तु, मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दि-  
जाय, वह सब का सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना  
कहेगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भा-  
षा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमें दिल अ-  
दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गु-  
पूर्णरूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन व  
सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हो। तिलिस्माती कह-  
नियों, भूत-प्रेत की कथाओं, और प्रेम-वियोग के आख्यानों में  
किसी जमाने में हम भले ही प्रभावित हुए हो, पर अब उनके  
हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि  
मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं  
और तिलिस्माती कहानियों में भी जीवन की सचाइयाँ वर्णन कर  
सकता है, और सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है; परन्तु, इससे  
भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न  
करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का  
दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे में चाहे लगा सकते  
हैं,—चिड़े की कहानी और गुलो-बुलबुल की दास्तान भी उसके  
लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार  
से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे  
वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे  
हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई  
मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी  
कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं किसानों  
अजायब की दास्तान थी, कहीं वोस्ताने खयाल की और कहीं





जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावशाली होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीव्रता के बदौलत उसके सौन्दर्यबोध में उतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिये कि वह मानव-दिव्यता और भद्रता का वातावरण बँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है,—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगाला पेश करता है और उसकी न्यायवृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक्ति की ओर से उचित-अनुचित, सब तरह के दावे नहीं पेश करता। अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से वाते गड़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन नहीं सम्भव है जब आप सत्य में तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से खराब हो जायगी और वह आपके खिलाफ फैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए, मूर्ति बनाता है पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भाव-व्यञ्जकता भी। वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में

और हर मौके पर इस तरह आचरण करे, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है। अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुँचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य में वस्तु-स्थिति-चित्रण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासंभव प्रत्यक्ष अनुभवों की सीमा के बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही संतोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं, बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वह सचमुच मनुष्य है, और लेखक ने यथासंभव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है। क्योंकि, कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिये कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है और अपने पात्रों की जगह से वह खुद बोल रहा है।

इसीलिए, साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का मनो-वैज्ञानिक जीवन-चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप में प्रभावित नहीं होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना-कौशल इसी में है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे पाठक भी उससे सहमत हो जाय। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्य-कार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जाग्रत कर हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत कर — उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो। कि उसकी रचना में हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।

सुधार की जिस अवस्था में वह हो, उससे अच्छी अवस्था में आने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हम में कमजोरियाँ हैं, वह मर्ज की तरह हम से चिमटी हुई है। जैसा शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा। उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह सतुष्ट नहीं रहते जैसे कोई रोगी अपने रोग से सन्तुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है, उसी तरह हम भी इस फिक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमजोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसीलिए, हम साधु-फकीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं।

और, हमारी सारी कमजोरियों की जिम्मेदारी हमारी कुरुषि और प्रेमभाव से वंचित होने पर है। जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमजोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य एक शब्द एक सकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक-सा मालूम होता है, क्योंकि सौन्दर्य के विषय में हमारे



मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारा आध्यात्मिक आनन्द की कुञ्जी है; पर ऐसा कोई सचिन् मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और, उपयोगिता की दृष्टि से, एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुःख भी। आसमान पर छाई हुई लालिमा निस्संदेह बड़ा सुन्दर दृश्य है, परन्तु आपाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाय, तो वह हमें प्रसन्नता देनेवाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली बटाएँ देखकर ही आनन्दित होते हैं। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है। प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।

परन्तु सौन्दर्य भी पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कल गान सुनता है तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है, परन्तु, एक दूसरा सज्जन मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणिततम वस्तु समझता है।



अमीरो का पल्ला पकड़ रहना चाहता था। उन्हीं की कदम पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बँगलों की उठती है। भोपड़े और खंडहर उसके ध्यान के अधिकारी न उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इतना चर्चा करता भी था तो इनका मजाक उड़ाने के लिए। ग्राम्यता का देहाती वेष-भूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लिए, उसकी शीन-काफ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का गलत उपयोग, उसका व्यंग्य-विद्रूप की स्थायी सामग्री था। वह भी मनुष्य है, उसका हृदय है, और उसमें भी आकर्षण हैं,—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शक्ति-योजना का, भाव-निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है। भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संप्रान्त में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौन्दर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचिन् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है,—उस बच्चोवाली गरम-रूपरहित स्त्री में नहीं जो बच्चे को खेत की मेड़ पर मुलायम पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रंग हाँ, कपोलों और मोँहों ने निस्सन्देह सुन्दरता का काम है,—उसके उलके हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए हाँ और कुन्हलाये हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ ?



पर यह सकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रंगे होठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों के आंसुओं में त्याग, श्रद्धा, और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नफासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का। उसे तो इकबाल के साथ कहना होगा—

अज्ञ दस्ते जुनूने मन जिब्रील ज़बूँ सैदे,  
यज़्दाँ वकमन्द आवर ऐ हिम्मते मरदाना ॥

[ अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथों के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमन्द में तू खुदा के ही फाँस लाये ? ]

अथवा

चूँ मौज सराजें वजूदम जे सैल बेपरवास्त,  
गुमा मवर कि दर्श बहरे साहिले जोयम ॥

[ अर्थात् तरंग की भोंति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है. यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं किनारा ढूँढ रहा हूँ । ]

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी जब हमारा सौन्दर्य व्यापक हो जायगा जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायगी।



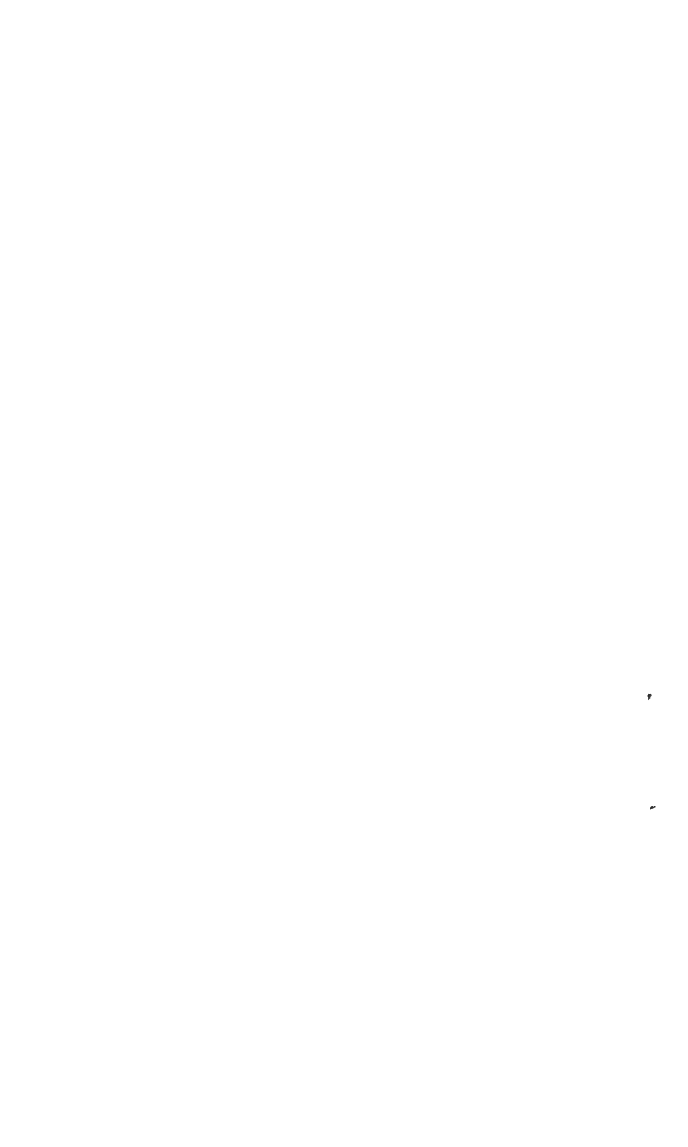
गाड़ीवाला पहियों की ठचक-ठचक ध्वनि के साथ सुर  
नेता हुआ उजेली रात में कोस-के-कोस पार कर जाता है;  
रगन में भेड़ों को चराते हुए गड़रिये के गान से सारा जंगल  
गति-नित होकर न केवल उसकी ध्वनि को ही किन्तु उसके  
अन्तर्लाल को भी प्रतिध्वनित कर देता है; कुँए पर 'धारा' आने  
में प्रतीक्षा में गाता हुआ 'धारिया' 'कीलिये' को आगे बढ़ने का  
प्रदेश देता जाता है और 'लाव' पर बैलों के पीछे बैठा  
हुआ 'कीलिया' अपने गान के द्वारा बैलों को प्रोत्साहित करता  
हुआ बढ़ाये चलता है; ईंट और गारा ढोता हुआ मजदूर गान  
में नल होकर जीवन की कठोरता को भूल जाता है।

आदिम मनुष्य-हृदय के इन्हीं गानों का नाम लोकगीत है।  
नव-जीवन की, उसके उल्लास की, उसकी उमंगों की, उसकी  
श्रम की, उसके रुदन की—उसके समस्त सुख-दुःख की कहानी  
तमें चित्रित है। न-जाने कितने काल को चीरकर ये गीत  
चले आ रहे हैं। काल का विनाशकारी प्रभाव इनका  
हृद नहीं विगाड़ सका। किसी कलम ने इन्हें लेख-बद्ध नहीं  
किया पर ये अमर है। सर्वभक्तक समय ने इनको मिटाने के  
लिए कितने प्रयत्न किये होंगे पर ये आज भी उसकी असफलता पर  
मुनकराते हुए जनता की जिह्वा पर नाच रहे हैं। वह खीन्ता है,  
नको ताड़ता है, मराडता है, पर मिटा नहीं सकता। कालान्तर  
में इनका बाह्य रूप परिवर्तित हो जाता है—भाषा का आवरण  
धीरे-धीरे बदल जाता है पर भीतर प्राण-तन्त्र में कोई अन्तर  
नहीं आता।

धीरे धीरे लाल गाता न वेग पमार चारणा जानि जे  
हाथो में पड़कर न्हान दूर-दूर का यात्रा कर डाली।  
टाढ़ियों ने उनका भारता पर नारा पावृजा जे पारियों ने







नेमाला, नयूर-विहीन अटविका, यूथप-विहीन मृग-मण्डली  
प्रिय से वियुक्त विरहिणी का चित्र खड़ा करती हैं। ऋतु-वर्णन  
में तो उन-उन ऋतुओं की आत्मा ही खड़ी कर दी गई है।

नारी को इस महान् नृजन-शक्ति का लोप अभी नहीं हो  
गया है। जब कभी उसके अन्तर में कोई प्रबल 'उमंग' उठ  
लड़ी होती है तभी एक नवीन गीत की तृप्ति हा जाती है। परन्तु  
प्रगतिमान सभ्यता के प्रवाह में यह शक्ति कब तक बचो रहेगी,  
यह कौन कह सकता है? सभ्यता और तथा-कथित संस्कृति  
लोक-साहित्य की महान् शत्रु हैं, जैसा प्रोफेसर किट्रिज ने  
कहा है—

शिक्षा इस मौखिक साहित्य की मित्र नहीं होती। वह उसे  
इतने वेग से नष्ट करती है कि देखकर आश्चर्य होता है। ज्योंही  
कोई जाति लिखना-पढ़ना सीख जाती है त्योंही वह अपनी  
परम्परागत कथाओं की अवहेलना करने लग जाती है, यहाँ तक  
कि उनसे थोड़ी-बहुत लज्जा का अनुभव भी करने लगती है, और  
अन्त में उनको याद रखने तथा पोढ़ी-दर-पोढ़ी हस्तान्तरित करने  
की इच्छा एवं शक्ति में भी हाथ या बैठती है। जो आज अभी  
समस्त जनता की यो वह केवल निरक्षरों का सम्पत्ति रह जाते  
हैं और यदि पुनर्जात-प्रोन्नति द्वारा नष्ट हो न जायें  
तो नष्ट के लगे विलुप्त हो जाते हैं।

१६—काव्य में प्राकृतिक दृश्य









हे विहंगों को देख मुग्ध हो गये हैं। काले मेघ जब अपनी डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नील-वर्ण कर देते हैं, तब ते हुए नोलकण्ठों ( मोरों ) को देखकर सभ्यताभिमान के ल शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे दृश्यों को देखकर हर्ष वा है। हर्ष एक संचारी भाव है। इसलिए यह मानना जा कि उसके मूल में रति-भाव वर्तमान है, और वह राति-भाव न दृश्यों के प्रति है।

प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से होती है—( १ ) सुन्दर रूप के अनुभव द्वारा, और ( २ ) साहचर्य द्वारा। सुन्दर रूप के आधार पर जो प्रेम-भाव या लोभ ( मेरे मानस-कोश में दोनो का अर्थ नायः एक ही निकलता है ) प्रतिष्ठित होता है, उसका हेतु संलक्ष्य होता है; और, जो केवल साहचर्य के प्रभाव से अंकुरित और पल्लवित होता है, वह एक प्रकार से हेतु-ज्ञान-शून्य होता है। यदि हम किसी किसान को उसकी नोपड़ी से हटाकर, किसी दूसरे देश में ले जाकर, राजभवन में टिका दें, तो वह उस नोपड़ी का, उसके द्वार पर चढ़ी हुई कुन्हेड़ों की बेल का सानने के बहायेगा। वह यह नहीं समझता कि मेरा नोपड़ा इस राज-भवन से सुन्दर था परन्तु फिर भी नोपड़ा का प्रेम उसके हृदय में बना हुआ है। यह प्रेम रूप-सौन्दर्यगत नहीं है बल्कि स्वाभाविक और हेतु-ज्ञान शून्य प्रेम है इस प्रेम का रूप मोदद-म प्रेम नहीं पहुँच सकता।

केंजराले टालों उसर पटपरा पहाड के उदय-समास 'य' का या ददलकगैदे के नाडो ने क्या आराधन करनेवाला बाद मानना होता है कि फारस की इस नगाफना शासक का सुनना

















प्रत्युत वस्तु-विन्यास की ओर कम और अलंकार-योजना की ओर अधिक पाते हैं। उनके दृश्य-वर्णन में वाल्मीकि आदि प्राचीन कवियों का-सा प्रकृति का रूप-विश्लेषण नहीं है, उपमा, श्रुति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि की भरमार है। उदाहरण के लिए उनके प्रभात-वर्णन से कुछ श्लोक दिये जाते हैं—

अरुणजलजराज्जा मुग्धहस्ताग्रपादा।  
 बहुलमधुपमाला कञ्जलंदावराक्षी ।  
 अनुपतति विरावै. पत्रिणां व्याहरन्ती  
 रजनिमचिरजाता पूर्वसंध्यासुतेव ॥  
 विततपृथुवरत्रातुल्यरूपमंयूखैः  
 कलश इव गरीयान् दिग्भिरारुण्यमाण ।  
 कृतचपलविहगालापकोलाहलाहलाभि-  
 जलनिधिजलमध्यादेप उत्तार्यतेऽकं ॥  
 व्रजति विषयमषणामशुमाली न यावत्  
 तिमिरमखिलमस्तं तावदेवाऽरुणेन ।  
 परपरिभ्रमवितेजस्तन्वतामाशु कर्तुं  
 प्रभवति हि विषयोच्छेदमग्रेसरोऽपि ॥

इस वर्णन में यह स्पष्ट लक्षित होता है कि कवि को दृश्य को एक-एक मूढ़म वस्तु और व्यापार प्रत्यक्ष करके चित्र पूरा करने से जतनी चिन्ता नहीं है जितनी कि अद्भुत-अद्भुत उपमाओं आदि के द्वारा एक सँतुल्य गूढ़ा करने की पर काव्य सँतुल्य नहीं है, उसका उद्देश्य गम्भीर है

पात्राव्य काव्य-मन्त्रात् किन्ती वर्णन व प्राकृतिक (२)

(१) आर ज्ञेय-पत्र (१) (२) आरवा विषय-पत्र आर

विषय-पत्र—वा पत्र लिया करते हैं जा मन्त्रो वाद्य दक्षिण न  
 हम देख रहे हैं उनका चित्रण ज्ञेय-पत्र के अन्तर्गत हुआ आर



आ ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रमगानुकूल भाव उद्दीप्त करने में भी सहायक नहीं, काव्य के गांभीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगाड़ना है। इसी प्रकार बात-बात में 'अहाहा ! कैसा मनोहर है ! कैसा आश्चर्यजनक है !' ऐसे भावोद्गार भी भ्रमपन से खाली नहीं, और काव्य-शिष्टता के विरुद्ध हैं। तात्पर्य यह कि भावों की अनुभूति में नहायना देने के लिए केवल कहीं-कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग करना ही उचित है, जितने से विव-ग्रहण करने में, दृश्य का चित्र हृदयंगम करने में, श्रोता या पाठक को बाधा न पड़े। जहाँ एक व्यापार के मेल में दूसरा व्यापार रक्खा जाता है, वहाँ या तो—

(क) प्रथम व्यापार से उत्पन्न भाव को अधिक तीव्र करना होता है, जैसे हिलती हुई मंजरियाँ मानों भौरो को पास बुला रही हैं; अथवा—

(ख) द्वितीय व्यापार का सृष्टि के बीच एक गोचर प्रतिरूप दिखाना, जैसे—

'बुंद-घघात सहै निरि कैसे । खल के वचन सन्त सह जैसे ॥'

दूसरी अवस्था में प्रस्तुत दृश्य स्वयं सृष्टि या जीवन के किसी रहस्य का गोचर प्रतिविववत् हो जाता है। अतः उस प्रतिविव का प्रतिविव ग्रहण करने में कल्पना उत्साह नहीं दिखाती। इसी से जहाँ दृश्य-चित्रण इष्ट होता है, वहाँ के लिए यह अवस्था अनुकूल नहीं होती।

वाल्मीकिजी भी बीच-बीच में उपमाएँ देते गये हैं : पर उत्तम उनके सूक्ष्म-निरीक्षण में कसर नहीं आने पाई है। वर्षा में पर्वत से गेरु से मिलकर नदियों की धारा का लाल होकर बहना, पर्वत के ऊपर से पानी की मोटी धारा का काली शिलाओं पर निर-









## काव्य में प्राकृतिक दृश्य

पपा धर्मपरिक्लिष्ट नववारिपरिप्लुता ।  
 नीतेव शोक्नन्तस्त नदी वाप्यं विमुचति ॥  
 नीलनेषाश्रिता विद्युत्सुरती प्रतिभाति नान् ।  
 स्फुरन्ती रावणस्याके वैदेहीव तपस्विनी ॥  
 पप फुल्लार्जुनः जल केतकीरधिवन्तिः ।  
 मुभीव इव शातारिधाराभिरभिपिच्यते ॥

ऐसा अनुमान होता है कि कालिदास के समय में, या उसके  
 पहले ही से, दृश्य-वर्णन के संबंध में कवियों ने दो मार्ग  
 निकाले। स्थल-वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों  
 तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना  
 आवश्यक नहीं समझा गया, जितना कुछ इनीगिनी वस्तुओं का  
 ध्वन-मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है,  
 ऋतु-वर्णन वैने ही फुटकल पद्यों के रूप में पड़े जाने लगे, जैसे  
 बारहमासा पड़ा जाता है। अतः उनमें अनुप्रास और शब्दों के  
 नाधुर्य आदि का ध्यान अधिक रहने लगा। कालिदास के ऋतु-  
 महार और रघुवश के नवें मार्ग में मन्निविष्ट वसंत-वर्णन ने  
 इसका कुछ आभास मिलता है। उक्त वर्णन के श्लोक इस ढंग  
 के हैं—

कमुजजम्ब नतो नवपल्लवा -

मन्दनु पटपटशोकिव रजितम्

इति यद्येकमम विनृम्भतु -

उन्मत्त मन्त य उन्मत्त रान





अंश पर हृदय की तल्लीनता के कारण पूरा ध्यान रहा. उसका संस्कार बना रहा; और इस लिए संकेत पाकर उसकी तो पुनर्जावना हुई. शेष अंश छूट गया।



## टिप्पणी

[ अक पृष्ठ-सख्या को सूचित करते हैं। ]

### १ प्राचीन भारत को एक झलक

१०—वातोऽपि इ०—वायु भी चन्द्रों को हिला तक नहीं मरता था, अपहरण के लिए हाथ बढ़ाने की तो बात ही कहीं ? ( खुबंग, मार्ग ६ श्लोक ७५ ) ।

११ उत्सङ्ग—गोद । नैमित्तिक—निमित्त-विशेष में किया जानेवाला, जो नित्य न किया जाय occasional, periodical.

१२—अग्निष्वात्त—एक प्रकार के पितर (मनुष्य-जन्मनि अग्निष्टोमादि-यागमकृत्वा, स्मार्त्तं कर्म-निष्ठाः संतो, मृत्वा च पितृत्व गताः) ।

१३—Plain living, low lying thinking—सादा जीवन और ऊँचे विचार ।

१४—पतंग—पक्षी ।

### २-विचार-नरंग

१६—भुरभुराना—उमग में याना ।

१८ लालडिमी—फलकत्ते का एक स्थान । मिटो—भारत के वाइसराय ( १६०५—१० ) । उडवनं—बुडवनं, बगाल के छोटे लाट । सुषुप्ति—गहरी नींद ।

२०—झँदना—चमकना ।

२१—अधिष्ठाता—संचालक ।



४१—मानवता—मानव जाति। बहिर्मुख—बाहर की ओर बढने की।

४६—कलियाना—अकुरित होना।

४७—एकोऽहं बहु स्याम्—एक मैं बहुत हो जाऊँ, मैं एक से अनेक रूप धारण कर लूँ (परमात्मा के सम्बन्ध में एक ध्रुति)। उद्यम नवत

इ०—उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम ये चः जहाँ होते हैं वहाँ देवता भी सहायता करते हैं।

## ५-इमसान में हरिश्चन्द्र

४७—कसोटी—जाँच ( पाठान्तर, खसोटी = खसोटना )।

४८—चिराइन—चिरायध, दुर्गन्ध।

५०—लोलक—घंटी की लटकन, जिसके हिलने से घंटों बजती हैं। थापे—पंजे के छापे।

५१—काल-सर्प—समयरूपी सर्प। परकटे—जिसकी पाँखें काट गयी हैं। रुखा—बड़ी जाति का उल्लू। हडगिल्ल—बगुले की जाति का एक पक्षी।

५४—घोघी—तिकोना लपेटा हुआ कमल आदि जिसे किसान या गडरिये धूप, पानी अथवा शीत से बचने के लिए सिर पर ओढ़ते हैं।

## ६-वृद्ध

५६—मरी गाल—धौकनी।

५७—परसी हुई थाली—भोजन, जिनकी मृत-देह को कौड़े आदि खाने ही वाले हैं। कौवे के बच्चे—कौवा दीर्घायु के लिए प्रसिद्ध है।

५८—पसेमर्ग—मरने के बाद। यावदवयव—सारे अंग। निवृत्ता इ०—भोगों की इच्छा चली गयी, पुरुषार्थ का बड़ा भारी अभिमान चला गया, प्राणों के समान प्यारे समयस्क मित्र स्वर्ग चले गये, धीरे-धीरे बड़ी कठिनता से लाठी के सहारे उठा जाता है और नेत्र घने अन्धकार से अवलब्ध (अन्धे) हो रहे हैं तो भी यह निलंज काया मरण रूप अनिष्ट से चौंक उठती है। कैसा आश्चर्य है! (भर्तृ - वैराग्यशतक)।

## हिन्दी निबन्ध नवनीत

चारह चरमवाले को—मनमन्दार को चारह चरम की अवस्था  
मन आ जाती है ऐसा माना जाता है।

## ७-नाटक

—रूपक—स्वारोपात् तु रूपकम् (दशरूपक) ।  
—क्रियाकलापों का—आर्यों का, ज्योपाओं का । अन्तर्जगत—  
लोक, भाव-लोक । आविष्कार—प्रकटीकरण ।  
६१—उपलक्ष्य—संकेत, उपलक्षण शब्द की वह शक्ति है जिससे  
कथन से निर्दिष्ट वस्तु के अतिरिक्त उसी की कोटि की और-  
वस्तुओं का भी बोध होता है (स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वैतरप्रति-  
पदकत्वे) ।

६२—वक्र—सीधी नहीं । अन्तर्द्वन्द्व—हृदय के भावों का युद्ध ।

६४—इक्सन—नारवे का एक साहित्यकार ।

६५—न्युजिकल—सर्गात्मक ।

६६—रोमियो जूलियट, एरुटोनों किलियापेट्रा—रोक्सपियर के दो

नाटक ।

६७—काइन एरुड पनिशमेंट—रूसी लेखक दास्तावेत्की का एक  
उपन्यास । जार्ज मैरेडिथ—इंगलैण्ड का एक साहित्यकार । नेदरलैंड—  
बेल्जियम का एक साहित्यकार । वर्नाडोशा—घमोजी का एक आधुनिक  
मालीन नाटककार ।

६८—नाट्य भिन्नत्वेर् इ०—नाटक विभिन्न रुचिवाले सभी लोगों  
समान भाव से—एक समान—रजन करता है ।

## ८-दो-दो बातें

यह निबन्ध चुनते-चोपड़े की नूमिक से उद्धृत किया गया है ।  
यारा निबन्ध बेलचाल की भण्डोर सुहारा में लिखा गया है ।  
७२—हवा बोधना—शेरी होकर । निर-धरे-नेता लोग ।





२४—फाएफलक—काठ के आधार । हूबेल—प्रसिद्ध कलाविद् ;  
न क्लरक्ते के आर्ट-स्कूल के प्रिंसिपल तथा इंडियन न्यूजियम के कला-  
विभाग के निरीक्षक थे । भारतीयों में कला-सम्बन्धी आत्मसम्मान जाग-  
रित करने का श्रेय वास्तव में इन्हीं को है । यहाँ आने पर इन्होंने देखा  
कि भारतीय चित्रकार अपने प्राचीन आदर्शों को छोड़कर अन्धाधुन्ध यूरोप  
की चित्रकला की नकल कर रहे हैं । प्रसिद्ध कलाकार अवनीन्द्रनाथ ठाकुर  
( जो आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ भारतीय चित्रकार हैं ) के सहयोग से  
इन्होंने प्राचीन भारतीय चित्रकला के आदर्शों को पुनः प्रतिष्ठित किया ।  
इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें Indian Sculptures  
and Paintings ( भारतीय मूर्तियाँ और चित्र ) महत्त्वपूर्ण हैं ।  
प्रश्नों का उत्तर इसी ग्रन्थ का है ।

## १०—व्रज-भाषा का विरोध

२६—कन्द—मिश्री ।

२७—हेत्वाभास—असत् हेतु । अन्वय-व्यतिरेक—न्यायशास्त्र में  
प्राप्ति के दो भेद । अन्वय = जहाँ हेतु होगा वहाँ साध्य अवश्य होगा ।  
जैसे—(१) जहाँ जहाँ धुँवा होगा वहाँ वहाँ अग्नि होगी । (२) जिन-  
विषय भाषाओं में शृंगार-काव्य है वे सब हेय हैं । व्यतिरेक = जहाँ साध्य  
होगा वहाँ हेतु भी न होगा । जैसे—(१) जहाँ जहाँ अग्नि नहीं वहाँ  
धुँवाँ भी नहीं । (२) जो जो भाषाएँ देय नहीं हैं उनमें शृंगार-काव्य  
नहीं है ।

२८—डिगल र चम्पू न का प्राचीन काव्य-भाषा जिसमें वीर रस  
की प्रधानता है ।

२९—कान्ताममिततयोपदेशयुज—नम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में  
काव्य के ६ फल बतलाये हैं—

काव्य रसस्यार्थकृते व्यवहारविद शिवेतरक्षते ।

मरा रगनिवृत्तये कान्ताममिततयोपदेशयुजे ॥







६८—मौलिक—मूल, Fundamental.

६९—रत्न-नागाधर—जगन्नाथ कविराज का सुप्रसिद्ध नाट्य-ग्रन्थ।  
इन्हीं में भी इनका अनुवाद हो चुका है जो कारों की नागरी-प्रचारिणी  
मार्ग द्वारा प्रकाशित हुआ है। व्याप्त—विस्तार।

६९—शास्त्रीय—Scientific

६९—इयत्ता—इतनापन, सीमा, संख्या। रत्ननिपति—रत्न का  
संग्रह।

१००—विक्रान्तवाद—देखिये, रवानसुन्दरदास कृत भाषा रहस्य,  
अपन भाग, दूसरा प्रकरण।

१०२—वास्तना—संस्कार रूप में।

१०४—स्तम्भ-भूधराकर-सरोरा—इतुनान के लिए (देखिये सुन्दर  
दास, दोहा १६)।

१०५—तथाकथित—So-called १०६—अपरिमित—दान न  
लेना, रूपने पान कुछ न रखना।

## १३—श्रौत

१११—स्थगित होना—काम करना छोड़ देना, थककर काम छोड़  
देना। दालनीर करना—नाखे लगाकर निखना। मुड़ प्यं—भाकर भेटना।

११२—अप न दृष्टा दे—(आम के प्रति लक्ष्मण का उक्ति)। अप  
प्रकार मानियों का हार हट जान पर उनके मोर्चा। ११३—अप न दृष्टा दे  
पर अपन विचार करते हैं उन्हीं प्रकार सुन्दर रत्न। ११४—अप न दृष्टा दे  
दृष्टी पर निरत हैं और निरत हो हट। ११५—अप न दृष्टा दे  
ने करण आधिक्य न सुन्दर हट। ११६—अप न दृष्टा दे  
उनको रोह रत्ना व तां भां अपने हुए अर्थ। ११७—अप न दृष्टा दे  
पर प्रकट कर देने। उत्तर मन्त्र। ११८



अतिपञ्चति इ०—प्रीति बाह्यविशेषताओं पर आधित नहीं होती, कोई  
 भाव ही पदार्थों को परस्पर मिलाता है। (उत्तररामचरित ६।१२)  
 अर्थ—शब्द की तीन शक्तियों में से एक; इसके द्वारा शब्द के  
 अर्थ—प्रमत्त या प्रमिद या शाब्दिक—अर्थ (वाच्यार्थ) का बोध  
 होता है। अनिष्टा ने विलक्षण अर्थ—जैसे लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ आदि।

धनिकार—काव्य-संबन्धी भारतीय सिद्धान्तों में सबसे महत्त्वपूर्ण  
 धनिकार है जिसके अनुसार ध्वनि या व्यंग्यार्थ Suggested  
 ही काव्य की आत्मा है। इस सिद्धान्त का विवेचन ध्वन्यालोक  
 नामक ग्रन्थ में है जो कारिका और वृत्ति इन दो भागों में है। इनमें  
 वृत्ति के रचयिता आनन्दवर्धन हैं पर कारिका-कार के विषय में निश्चित  
 रूप में कुछ भी ज्ञात नहीं। कई लोग आनन्दवर्धन को ही कारिका  
 और वृत्ति दोनों का रचयिता मानते हैं। यहाँ धनिकार से अभिप्राय  
 कारिका-कार का है।

प्रतीयमान इ०—प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) महाकवियों की बारी में  
 पक निराली पस्तु है। जिस प्रकार ललनाओं ने लावण्य होता है, जो  
 पक्षों की निदोषिता अथवा अलकारों के धारण से अनित सौंदर्य से  
 नवधा भिन्न होता है, उसी प्रकार काव्य में प्रतीयमान अर्थ होता है जो  
 शब्दों के अर्थ—वाच्यार्थ—से नवधा भिन्न होता है। यह लावण्य शरीर  
 में उसी प्रकार क्लृप्ता रहता है, जिस प्रकार मोती में उनकी कान्ति  
 (ध्वन्यालोक १।४।T प्रतीयमान

Charn

Charn

छाया—जिस 'जगत्' के वरय वह गया है।

छाया वि० ०० + व्यंग्य अर्थ का ज्ञान या लावण्य

Charn

कुन्तल—एक वरय मनुष्य अथवा सिद्धान्त कहलत है।  
 से प्रतीति का ही वरय का ज्ञान मन्त है यही वरय + व्यंग्य वि० ००





११०—प्रतिभा प्रथमोद्भेद इ०—प्रतिभा के प्रथम प्रकार के समय ( यथाह बिना कवि के प्रयत्न किये अपने आप ) शब्द और अर्थ के भीतर स्फुरण करती हुई एक प्रकार की स्वानात्मिक वक्रता दिगर्द पड़ती है ।  
( वक्रोत्तिजीवित १ । ३४ )

वक्रता—वैचित्र्य, Strikingsness, imaginative turn  
विदग्ध—चतुर, जिस तरह सहृदय होना काव्यधोता या काव्य-पाठक के लिए आवश्यक गुण है उन्ही प्रकार विदग्ध होना कवि के लिए आवश्यक है ।

वैदग्ध्य—कवि-कौशल । भंगी—भंगिमा । भणिति—उक्ति, कथन ।  
वैदग्ध्य-भंगी-भणिति—कवि-कौशल-जनित वैचित्र्य से पूर्ण उक्ति a speech that charms by the skill of the poet (Kane); a mode of expression ( = भणिति ) depending on the peculiar turn ( = भंगी ) given to it by the skill of the poet ( = वैदग्ध्य or कवि-कौशल ) (Dr S K De).

शब्दस्य हि इ०—यह ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त द्वारा लिखित ध्वन्यालोकलोचन ( लोचन ) टीका का उद्धरण है ( निर्णयसागर प्रेस मंस्तरण, पृष्ठ २०८ देखिये ) ।

शास्त्रादि—शास्त्रों आदि में पाई जानेवाली सामान्य शब्दार्थ-रचना से भिन्न ( ऊपर वक्रोत्ति-विषयक डा० एस० के० दे का उद्धरण देखिये ) ।

उपनिबन्ध—रचना, Composition । व्यतिरेकी—भिन्न ।

वर्ण से लेकर प्रबंध तक—उदाहरणों के लिए कुन्तक का वक्रोत्ति-जीवित देखिये ।

उद्भासिनी—प्रकट करनेवाली ।

परस्परस्य इ०—कहीं-कहीं वक्रता के नाना प्रकार एक ही स्थान पर आकर एक-दूसरे की शोभा-वृद्धि करते हैं और इस तरह ऐसी वक्रता की



१८—प्रबन्ध—पूरी कथा, पूरा काव्य ।

सुखा इ०—जिस प्रकार अलंकारवती ललनाओं के लिए भी लज्जा प्रधान भूषण होती है उसी प्रकार अलंकारवती कविता ( महाकवि की कविता ) के लिए भी यह प्रतीयमान द्वारा सुख भूषण है । ( ३ । ३८ ) ।  
ही—लज्जा ।

अभिनवगुप्त—ध्वन्यालोक के प्रतिद्वंद्वीकार । ये साहित्यशास्त्र के प्रचंड विद्वान् थे । इनकी टीका का नाम ध्वन्यालोकलोचन या लोचन है ।

परा इ०—परा ( अर्थात् दुर्लभा ) द्वारा अर्थात् आत्मरूपता ) को प्राप्त होते हैं ( २ । २६ ) ।

अन्तर—अन्यन्तर, मोतरी ।

निरहंकार नृगाढ—अहंकाररहित चन्द्र ( ध्वन्यालोक; वक्रोक्तिर्जावित ) ।

पृथ्वी गतयौवना—जिसका यौवन बीत गया ऐसी पृथ्वी ।

सवेदननिवांशम्—संवेदन के समान अंगर ।

अनपद-बधू-लोचनैः पीयमानः—देहात की स्त्रियों की ओलों द्वारा पिया जाता हुआ ( मेघदूत ) ।

विश्वसनीयमायुध—विश्वास के योग्य हथियार ।

घाटं जलति ज्यातिरहमस्मि—एक श्रुति ।

मधु नक्तमुतापसि मधुवत् पार्थिव रज—रात्रि और उषा मधुर हो, पृथ्वी की रज मधुर हो ।

श्रुति—वेदमन्त्र । शुचि-शान्त इ०—स्वच्छ और शान्त चन्द्रिका में नहाई हुई चिरकालीन निरादृष्टता ( मचाटे ) के कारण सनाह, पना दिशाएँ उनके हृदय में शान्तभाव का प्रवेश समभाव का कारण हुई वक्रोक्ति-जावित २ )

११६—स्निग्धता—कोमलता । तल्लकारा इ०—वे अलंकार ध्वनि के अंग बनकर परम शाना को प्राप्त करते हैं । ( ध्वन्यालोक २ । २६ )



Concealment of the apprehension of the difference between two objects, absolutely distinct, on the strength of the extreme likeness of the two

उपचार-वक्रता—यत्र अमूर्तस्य वस्तुन मूर्तद्रव्याऽभिधायिना शब्देन अभिधानं ( अलंकारसर्वस्व—टीका ), जहाँ अमूर्त वस्तु के साथ मूर्त वस्तु के विशेषण का प्रयोग किया जाय ; जैसे—सुप्त वेदना ।

विवृति—प्रकाशन ।

विशेष—(क) इस निबन्ध के सम्बन्ध में विशेष अध्ययन के लिए निम्नलिखित ग्रन्थ उपयोगी होंगे—

(१) कुन्तक कृत वक्रोक्तिजीवित ( डाक्टर सुशीलकुमार दे द्वारा सम्पादित )

(२) आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक, अभिनवगुप्त की लोचन टीका सहित ( निर्णयसागर प्रेस, बम्बई )

(३) डाक्टर सु० कु० दे—हिस्ट्री आफ् संस्कृत पोयटिक्स, खंड २, विशेषतः पृष्ठ २३५-२४६ तथा ५६-६९ ।

(४) पा० वा० काणे—हिस्ट्री आफ् अलंकार लिटरेचर ( कुन्तक, भामह और आनन्दवर्धन का वर्णन तथा ध्वनि और वक्रोक्ति सम्प्रदायों का विवेचन ) ।

(५) पा० वा० काणे - साहित्यदर्पण, सटिप्पण परिच्छेद १।२।१० ( इसकी प्रस्तावना में हिस्ट्री आफ् अलंकार लिटरेचर दी हुई है ) ।

(६) रामचन्द्र शुक्ल—काव्य में रहस्यवाद ।

(७) लक्ष्मीनारायणसिंह—काव्य में अभिव्यजनावाद ।

(ख) छायावाद और रहस्यवाद के सम्बन्ध में निम्नलिखित निबन्ध

देखिये—

(१) जयशंकरप्रसाद—यथार्थवाद और छायावाद (हंस, अप्रैल : .

(२) देवीशंकर वात्रपेयी—दार्शनिक, रहस्यवादी तथा ~

( हंस, नवम्बर १९३६ ) ।

(३) शाखाल—साहित्य में संकेतवाद (तरस्वती, अगस्त १९३१)।

(४) केदारनाथ—हिन्दी कविता में छायावाद (माधुरी, चैत्र १९३१)

(५) केदारनाथ—काव्य में रहस्यवाद ( माधुरी, वैशाख, १९३१ )

(६) जंगलाल मालवीय—काव्य में रहस्यवाद (माधुरी, क्रांतिक १९३१)

(७) शांतिप्रिय द्विवेदी—छायावाद, रहस्यवाद, और दर्शन (इंडियन

प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'कवि और काव्य' पुस्तक में ) ।

(८) नगेन्द्र—छायावाद ( हंस, फरवरी १९३८ ) ।

(९) Spurgeon Mysticism (Cambridge Manuals, Macmillan & Co).

(१०) Underhill : Mysticism (Macmillan).

(११) K M Sen : Medieval Mysticism of India.

## १६-नयनों की गंगा

१३२—वपतिस्ना—ईसाई धर्म का एक संस्कार जो किसी व्यक्ति को ईसाई बनाने के समय किया जाता है । इसमें जलाभिषेक कराया जाता है । प्रत्येक ईसाई बालक का नामकरण के समय यह संस्कार किया जाता है और तभी से वह ईसाई समझा जाता है ।

मसीहा—ख्रीष्ट, Christ

मर्दुमे-दीदा—पुतलिया । बुत—प्रेमपात्र । पज-पू-मिज्ञगा—पत्रों के पंजे में । हाथ द०—नेत्रों की पुतलियाँ प्रेमपात्र से नाली हाथ क्या मिलें ? पलकों के पंजे में कम से कम अश्रुरूप मोतियों की मात्रा तो हो ।

१३३—शरीराभ्यास—शरीर का भान ।















